वर्ष 16, अंक 9, मई 2023
ISSN: 2277-7857

समकालीन हस्तक्षेप

साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका



संपादक

डॉ. कपिल कुमार गौतम

'समकालीन हस्तक्षेप' एक पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका है। इसका ISSN 2277-7857 तथा SJIF 2023 = 7.858 है। इस शोध-पत्रिका में प्रकाशन हेतु मुख्य विषय हिंदी साहित्य, सामाजिक विज्ञान, मानविकी, संस्कृति, कला, समसामयिक मुद्दे आदि हैं।

 www.hastakshep.co.in

 editor@hastakshep.co.in

 +91 - 9431109143



वर्ष: 16, अंक: 9, मई 2023

समकालीन हस्तक्षेप

साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

वर्ष: 16, अंक: 9, मई 2023

कवर पेंटिंग: गौरीप्रवा सिंह

Published by

RESEARCH WALKERS
2nd Floor, Rout Niwas, Kuansh,
Near Town Police Station, Bhadrak,
Odisha, India – 756100

E-mail: editor@hastakshep.co.in
Website: www.hastakshep.co.in
WhatsApp No.: +91 94311 09143

अनुक्रम

वर्ष: 16, अंक: 9, मई 2023

सम्पादकीय

1.	पर्यावरण संरक्षण में आदिवासी संस्कृति एवं परम्पराओं की भूमिका	डॉ० स्निग्धा रावत, हिमांशु प्रभाकर	8-12
2.	वैश्वीकरण के दौर में जनजातीय समाज: समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण	धीरज प्रताप मित्र, अवधेश कुमार	13-19
3.	मीडिया के बदलते स्वरूप का वर्तमान समाज पर प्रभाव	प्रो. चंदा बैन	20-23
4.	बुन्देलखण्ड की कला, संस्कृति एवं साहित्य : एक अनुशीलन	प्रो. नागेश दुबे, डॉ. मोहन लाल चढ़ार	24-29
5.	पारंपरिक नाट्य परंपरा का स्वरूप एवं रंगमंचीय आलेख	डॉ. संजीब कुमार	30-35
6.	देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास और कला जगत	स्मृति कुमारी	36-39
7.	प्रेमचंद का समकालीन नारी उत्थान	डॉ. देवपाल सिंह बैरवा	40-43
8.	मीराबाई के काव्य में प्रतिरोध के स्वर	डॉ. सुजाता मिश्र	44-47
9.	आधुनिक विश्व में मानवता की रक्षक श्रीमद्भागवत गीता का सांस्कृतिक अध्ययन: विश्व बंधुत्व के महामंत्र ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ के विशेष सन्दर्भ में एक विश्लेषण	धीरज कु. निर्भय	48-52
10.	नई शिक्षा नीति 2020 विभिन्न बदलाव और मूल्यांकन	नेहा शर्मा	53-55
11.	बदलता भारत : आदिवासी विकास के मुद्दे और चुनौतियां	डा. नीलांजना जैन, पूजा गुप्ता	56-61
12.	भूमण्डलीकरण और असग़र वजाहत की कहानियाँ	प्रेमचन्द्र	62-65

सम्पादक की कलम से...

सभ्यता और संस्कृति, किसी जन समुदाय के द्वारा सम्पूर्ण जीवन में अर्जित की गई सबसे महत्वपूर्ण पूँजी होती है। इस पूँजी पर अप्राकृतिक एवं अनावश्यक रूप से बाह्य हस्तक्षेप होने की दशा में पहचान एवं अस्मिता का संकट स्वरूप ग्रहण करता है। पहचान का यह संकट प्रभावित समुदाय को भयाकुल करता है। जिसके उपरांत विचार-विमर्श के साथ सामाजिक पुनरावलोकन की दिशा में प्रयास किए जाते हैं। समकालीन दौर में कई वंचित समूहों की अस्मिता एवं अस्तित्व के लिए विमर्शगत संघर्ष जारी है। इन अस्मितागत संघर्षों में आदिवासी संघर्ष एक महत्वपूर्ण और विशिष्ट विमर्श के रूप में अस्तित्व में आया है। आदिवासी विमर्श अपनी आन्तरिक संरचना में सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों को धारण करता है। आदिवासी समाज का प्रश्न दुनिया भर में चल रहे अस्मिता मूलक प्रश्नों में सबसे ज्यादा मानवीय एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आदिवासी विमर्श एक ओर जहाँ आदिवासी समाज के अस्तित्व के संकट की वकालत करता है, तो वहीं दूसरी ओर आदिवासी समाज में संघर्ष करने की क्षमता को भी विकसित करता है।

सदियों से उपेक्षित एवं शोषित आदिवासी समाज के अधिकारों का हनन प्रत्येक काल में हुआ है। जल, जंगल, जमीन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। किन्तु साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक सत्ता ने आदिवासियों का शोषण एवं दमन करते हुए, उनके संसाधनों पर जबरन कब्जा कर लिया। जिसके कारण खेती-किसानी करने वाले इन लोगों से इनकी जमीन छीन ली गई और ये लोग अपने ही खेतों में मजदूर बन गए। किन्तु प्रकृति के सहचर आदिवासी समाज ने आपसी सहयोग की भावना, सांस्कृतिक वैशिष्टय और कला इत्यादि गुणों को प्रत्येक परिस्थिति में सुरक्षित रखा है। औपनिवेशिक सत्ता ने आदिवासी समाज को सिर्फ आर्थिक एवं सामाजिक रूप से ही प्रभावित नहीं किया बल्कि इनके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक मूल्यों को भी प्रभावित किया। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में जब आदिवासी समाज को भी संविधान के अधीन एकसमान अधिकार प्रदान किये गये और वैश्विक स्तर पर मानवाधिकार जैसी अवधारणाओं एवं संस्थाओं का उदय हुआ। तब आदिवासी समाज की समस्याओं को रेखांकित किया जाने लगा। जिसके परिणामस्वरूप आदिवासी समाज के विकास एवं उत्थान हेतु विभिन्न प्रयास किये जाने लगे। हालांकि ये प्रयास बहुत ही सीमित एवं नगण्य ही रहे हैं। किंतु इनका प्रभाव यह हुआ कि समाज में मानवता एवं समानता के पक्षधर और इस उपेक्षित वर्ग की चिंता करने वाले जन-समूह ने एक मंच पर आकर आदिवासी समाज के अधिकारों एवं विलुप्त होते अस्तित्व की ओर दुनियाभर का ध्यान आकर्षित कराने का प्रयास किया। कुछ समाजसेवियों, चिंतकों और साहित्यकारों ने आदिवासी समाज के बीच जाकर, उनके हालात जानने की जेहमत भी उठाई।

इक्कीसवीं सदी में आदिवासी विमर्श समकालीन समाज में हस्तक्षेप करते हुए आगे आता है किंतु धीरे-धीरे द्वन्द्वात्मकता इसकी गति को प्रभावित करने लगती है। एक ओर तो जहां आदिवासी समाज की सभ्यता, संस्कृति एवं जीवन मूल्यों को संरक्षित रखने की चुनौती है। तो वहीं दूसरी ओर विज्ञान, तकनीकी और आधुनिक जीवनोपयोगी संसाधनों से उनको जोड़ने की आवश्यकता है। भूमंडलीकरण तथा संचार माध्यमों के प्रभाव से आदिवासी समाज आधुनिक जगत से जुड़ रहा है किंतु इसके परस्पर उसकी मौलिक चेतना, जीवन शैली, भाषिक विविधता और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास भी हो रहा है, जिससे उनके अस्तित्व एवं अस्मिता पर संकट गहराने लगा है। वास्तव में आदिवासी समाज के लिए आज एक ऐसी व्यवस्था की जरूरत है, जो उनके उत्थान में सहायक हो, किन्तु उनकी अपनी अस्मिता एवं पहचान बनी रहे।

कपिल कुमार गौतम

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

SJIF 2023 = 7.858, ISSN: 2277-7857
वर्ष: 16, अंक: 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

पर्यावरण संरक्षण में आदिवासी संस्कृति एवं परम्पराओं की भूमिका

डॉ० स्निग्धा रावत[1], हिमांशु प्रभाकर[2]

[1] सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, एम.बी.पी.जी. महाविद्यालय,
हल्द्वानी, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड
ई-मेल: snigdha.910@gmail.com

[2] शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, एम.बी.पी.जी. महाविद्यालय,
हल्द्वानी, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड
ई-मेल: himanshungo@gmail.com

सारांश

पर्यावरण मनुष्य के जीवन का महत्वपूर्ण अंग है जिसको संरक्षित किये बिना मानव जीवन का अस्तित्व सुरक्षित नहीं है, लेकिन इस बात का अफ़सोस है कि वर्तमान समय के विज्ञान और तकनीकी युग में मनुष्य की स्वार्थी प्रवृति, औद्योगीकरण, सड़क चौड़ीकरण, वन संसाधनों का अतिदोहन व अन्य विकास कार्यों के नाम पर वनों के निर्ममता के दोहन से ऑक्सीजन के स्रोत नष्ट हो रहे हैं। कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा में हुई बढ़ोतरी से मनुष्य और प्रकृति के लिए भयानक ख़तरा उत्पन्न हो गया है। वर्तमान में तेजी से सिमटते जंगल और पर्यावरण को बचाने के लिए पुरातन काल से जंगलों के साथ चोली-दामन का साथ निभाने वाले आदिवासी समुदाय की भूमिका अहम है। भारत में लगभग 650 से अधिक आदिवासी समुदाय के लोग रहते हैं। जल, जंगल और ज़मीन को अपनी परम्पराओं में भगवान का दर्ज़ा देने वाले आदिवासी बिना किसी दिखावे के जंगल और स्वयं के अस्तित्व को बचाने के लिए आज भी प्रयासरत हैं। यह समुदाय परम्पराओं का निर्वहन करते हुए शादी से लेकर हर तरह के मांगलिक कार्यों में पेड़ों को साक्षी मानते हैं। वनों के सहेजने की प्रबल प्रवृति के कारण आदिवासी वन और वन्यजीवों से उतना ही प्राप्त करते हैं जिससे उनका जीवन सुलभता से चल सके व आनेवाली पीढ़ी को भी वन स्थल धरोहर के रूप में दिए जा सकें। इनमें वन-संवर्द्धन, वन्यजीवों व पालतू पशुओं का संरक्षण तथा कला को सहेजने की प्रवृति परम्परागत है। इन्हीं कौशल दक्षता व प्रखरता के कारण आदिवासियों ने पहाड़ों, घाटियों और प्राकृतिक वातावरण को आजतक संतुलित बनाये रखा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत विज्ञान और तकनीक के युग में संसाधनों के अधिक खनन तथाव उद्योगों के हस्तक्षेप व बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं के चलते आदिवासियों की बेदख़ली हुई। वनों और आदिवासियों को संरक्षित करने वाले कानून धराशायी हो गए। उपर्युक्त परिस्थितियों के मद्देनजर आदिवासियों को बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करना, रोज़गार, पुनर्वास व उचित मुआवज़ा देना ज़रूरी है।

बीज-शब्द: *आदिवासी, पर्यावरण, परम्परा, उद्योग-धंधे व तकनीकी विकास, विस्थापन, पुनर्स्थापिना।*

प्रस्तावना

किसी भी समुदाय का जीवन उस क्षेत्र की प्रकृति और मनुष्य द्वारा उस प्रकृति के संस्करण के बीच चलता है। मानव और प्रकृति की पारस्परिकता के आधार पर इस तरह की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। प्रकृति और मानव पारस्परिक रूप से एक-दूसरे का संपोषण करते रहते हैं। यह पारस्परिकता आपस में बीस कदर से अन्योन्याश्रित है कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व में बने रहना संभव नहीं है। झारखण्ड क्षेत्र में प्रकृति और संस्कृति की पारस्परिकता पर के आधार पर समन्वय

चिरंतन काल से लेकर वर्तमान तक बहुत समन्वित ढंग से चलता आ रहा है। हजारीबाग के दामोदर घाटी क्षेत्र में हाल ही में हुए उत्खनन से इस बात की प्रमाणिकता सिद्ध होती है कि यह स्थान मानव के विकास की प्राचीनतम कड़ियों से जुड़ा हुआ है। इस क्षेत्र में पहाड़ की ऊँची चोटियों पर रहने वाले असुर और बिरहोर आदिवासियों के जीवन से यह प्रमाणित होता है कि मानव जीवन किस प्रकार से प्राकृतिक व्यवस्थाओं पर अवलंबित है। घने जंगलों से दूर जाकर घाटियों और सपाट मैदानों में निवास करने वाले आदिवासियों ने प्रकृति के बीच अपना स्थान बना लिया और उन्हीं के साथ कालांतर में बसे गैर-आदिवासी समुदाय के लोगों ने प्रकृति के साथ संबंधों का अनुसरण करते हुए स्वयं को उसके अनुरूप ही ढाल लिया और अब इस क्षेत्र के औद्योगिक और तकनीकी में हुए बढ़ोतरी ने विकास को चरम तक पहुँचा दिया।

परंतु संकट का आगाज़ भी यहीं से होता है। देश के औद्योगिक विकास और समृद्धि की लालच ने इस समस्त क्षेत्र को इस तरह से भयाक्रांत कर दिया कि पर्यावरण का जितना नुकसान स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व सैकड़ों सालों में नहीं हुआ होगा, उसके कई गुना अधिक नुकसान स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के सालों में हुआ। खान-खनिजों की बेतरतीब ख़ुदाई और बड़े पैमाने पर कल-कारखानों की स्थापना से लगभग 60 प्रतिशत वनावरण से घिरा रहने वाला यह क्षेत्र मात्र 13 प्रतिशत तक सिमट कर रह गया। प्रकृति के अनियंत्रित दोहन और नियंत्रण करने वाली मानसिकता ने नई आक्रामक आबादी के प्रवेश से प्रकृति के संरक्षण और उसके पोषण की वफ़ादारी तीव्रगति से क्षीण होती जा रही है। एक समय में बिहार की ग्रीष्मकालीन कहा जाने वाला छोटानागपुर क्षेत्र रेगिस्तान की तरह तप रहा है। बढ़ते तापमान और वर्षा में हो रही निरंतर कमी से जलस्तर घटता जा रहा है। उद्योग-धंधे से निकलने वाले औद्योगिक कचरे ने यहाँ की नदियों को इस कदर प्रदूषित कर दिया है कि पेयजल संकट जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। धनबाद, बोकारो, चंद्रपुरा और रामगढ़ जैसे कोयलांचल वाले क्षेत्रों में इस कदर ज़हर घुला हुआ है कि इस क्षेत्र में काम करने वालों में से 50 प्रतिशत से अधिक लोग श्वास की बीमारी से पीड़ित हैं। किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में विषाक्त और ख़तरनाक खनिजों की अनियंत्रित ख़ुदाई से शिशुओं में विकलांगता के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। इस असंतुलन में जितनी बढ़ोतरी होगी, इन क्षेत्र से प्रवसन भी उतना ही होगा और प्रकृति को पोषण करने वाले मनुष्य के भीतर संवेदनाओं का जितना अवसान होगा, विनाश की प्रक्रिया उतनी ही फ़लीभूत होगी।[1]

शोध पद्धति

प्रस्तुत शोध कार्य में शोध प्रारूप-की पद्धति वर्णनात्मक है। इस तरह के शोध संरचना के अन्तर्गत शोध कार्य से संकलित तथ्यों का विवरण प्रस्तुत किया है।

आदिवासी और उनकी सांस्कृतिक परम्परा

आदिवासियों की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा कौटुम्बिक व्यवस्था की अपनी विशिष्ट पहचान रही है। भारत में लगभग 650 से अधिक विभिन्न प्रकार के आदिवासी रहते हैं। सभी आदिवासी समुदाय की जीवनशैली, रीति-रिवाज़ एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ अलग-अलग होती हैं। वनों के प्रति सुरक्षा की प्रवृति प्रबल होने के कारण आदिवासी वनों से उतना ही प्राप्त करते हैं, जितने से उनकी ज़रूरत की पूर्ति हो जाए और आनेवाली पीढ़ी के लिए भी वन थाती के रूप में सौपें जा सकें। आदिवासियों में वन तथा वन्यजीवों एवं पालतू पशुओं को सुरक्षा प्रदान करने की प्रवृति पुरानी है। इनकी यही कुशलता और दक्षता के कारण पहाड़, घाटियाँ व प्राकृतिक वातावरण में संतुलन बरक़रार है।

प्राकृतिक वातावरण के सबसे प्रमुख हितैषी व संरक्षक माने जाने वाले सीधे-साधे आदिवासियों की ग़रीबी, अशिक्षा, बेरोज़गारी के कारण समाज की मुख्यधारा से अलग रहने तथा अन्य कारणों का लाभ उठाते हुए उनकी प्राचीन संस्कृति व अस्मिता को धूर्त एवं लोभी उद्योगपतियों के द्वारा शोषित किये जाते हैं। कभी जंगलों में मुक्त जीवन जीने वाले आदिवासी आज दैनिक श्रमिक के रूप में कार्य करते नज़र आते हैं। उचित पारिश्रमिक से कम ही उन्हें मेहनताना दिया जाता है। आज इन्हें इन्हीं के जल, जंगल और ज़मीन से बेदख़ल किया जा रहा है। आदिवासियों की ज़्यादात्तर भूमि कृषि के उद्देश्य से कम उपजाऊ होती है, फिर भी वे कृषि के माध्यम से जीवन-बसर तो कर ही लेते हैं। यदि इससे उनकी आवश्यकता की पूर्ति नहीं

होती है तो वनोत्पादों से उसकी भरपाई कर लेते हैं लेकिन प्रकृति के साथ छेड़छाड़ नहीं करते। डॉ वीरभारत तलवार के अनुसार- "औद्योगीकरण और उससे जुड़े हुए तंत्र ने स्थानीय जनता के सामने अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया है।[2]

नैसर्गिक संसाधनों की देखरेख और इनके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले आदिवासियों की भूमिका सामूहिक है। सम्पूर्ण विश्व में निवास करने वाले 37 करोड़ आदिवासी और वनवासी समुदाय के समक्ष वनों को काटना तथा उनकी परम्परागत ज़मीन से उन्हें बेदखल करना महत्वपूर्ण चुनौती है। वे इस धरा पर व्याप्त 80 प्रतिशत जैव विविधता वाले क्षेत्रों के संरक्षक हैं लेकिन बहुराष्ट्रीय निगमों के लालच ने इनके अस्तित्व के लिए ख़तरा उत्पन्न कर दिया है। बहुराष्ट्रीय कपनियों के आने और उद्योग स्थापित होने से इनके क्षेत्र में शुद्ध पेयजल तथा इनसे संबंधित प्राकृतिक मूलभूत सुविधाओं की समस्या हो गई है। आदिवासी कहते हैं कि मैंने जंगल और जलाशय की महत्ता को अपने जीवन में महसूस किया है। हम प्रकृति से उतना ही संसाधन लेते हैं जितने की ज़रूरत होती है क्योंकि प्रकृति के प्रति मेरी श्रद्धा है।

जल, जंगल तथा ज़मीन इन्हीं तीन तत्वों से पृथ्वी और प्रकृति निर्मित होती है। यदि ये तीनों तत्व न हों तो पृथ्वी और प्रकृति इनके बिना अधूरी है। आज विश्व के अधिकांश देशों में उन्हीं देशों को समृद्ध माना जाता है जिनके पास वनावरण और प्राकृतिक संसाधनों की अधिकता हो। वर्तमान समय में नैसर्गिक संसाधनों का निर्ममता से किया गया दोहन आदिवासियों के लिए और स्वयं प्रकृति के लिए समस्या उत्पन्न कर रहा है। प्रकृति पर नियंत्रण तथा प्रकडीटी का निर्ममता पूर्वक दोहन करने आबादी का प्रवेश आदिवासी क्षत्रों में हो चुका है।[3]

झारखण्ड में लगभग 30 प्रतिशत वन क्षेत्र हैं जिसके अधिकांश क्षेत्र में आदिवासी रहते हैं। लगभग 90 फ़ीसदी खनिज संसाधन, प्रमुख जड़ीबूटियाँ एवं बहुमूल्य खाद्य पदार्थ इन्हीं आदिवासी क्षेत्रों में पाए जाते हैं।

आदिवासी को एक विशेष जाति या वर्ग के रूप में समझना निरी भूल है। आदिवासी एक प्रकार से प्रकृति के अनुरूप तय सिद्धान्तों पर अपनी जीवनशैली और मान्यताओं को अपनाने वाला समूह है। यह समूह किसी मवेशी के दूध का प्रयोग नहीं करता। ऐसा इसलिए क्योंकि इनका मानना है कि माँ के दूध पर पहला अधिकार उसके बच्चों का है और प्रकृति का नियम भी यही है।

विश्व संसाधन संस्थान के एक प्रतिवेदन के अनुसार, सम्पूर्ण जगत में वनावरण वहीं बचे हैं जहाँ आदिवासियों की बहुलता है। आज भी जंगल और आदिवासी दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पर्यावरण संरक्षण में आदिवासियों की भूमिका महत्वपूर्ण है। जल, जंगल और ज़मीन से ये ख़ुद को आज भी जोड़े हुए हैं। वृक्षों के पूजने की प्रक्रिया इसी की एक कड़ी है। आदिवासी और जंगलवासी समूह हज़ारों साल से जंगल के बीच और जंगलों के साथ सहअस्तित्व के सिद्धांत पर रहता आया है। आदिवासी बड़ी दृढ़ता से कहते हैं कि नैसर्गिक संसाधनों का नाश होने का अर्थ है स्वयं का विनाश। संग्रह और परिग्रह से तटस्थता रखते हुए आधुनिकता से दूरी बनाकर आदिवासी लोग पर्यावरण की रक्षा करते हैं। जंगल से विरमित कर दिए जाने की वज़ह से आदिवासियों को जीवन के मानवीय मूल्यों की संस्कृति को त्यागकर केवल अपना अस्तित्व को बचाये रखने के लिए जातिगत भेदभाव और शोषणकारी संस्कृति में प्रविष्ट होकर अपना जीवन यापन करना पड़ रहा है।[4]

आदिकाल से ही भारतीय संस्कृति में वृक्षों का महत्व रहा है। वृक्षों को देवतुल्य पूजनीय माना गया है। अपनी संस्कृति में पीपल, वट, नीम, आम, आँवला इत्यादि पूजनीय हैं जिन्हें ग्राम्य वृक्ष के नाम से भी संबोधित किया जाता है। यही कारण है कि वृक्षों को न काटने की और न जलाने की परम्परा है। वर्तमान समय में भी ग्रामीण क्षेत्रों में इन वृक्षों की लकड़ियों को जलावन के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता है। यह आदिवासी संस्कृति की ही देन है। स्नान करने के पश्चात वृक्षों में जल अर्पण करने की परम्परा में वृक्षों को संरक्षित करने का ही भाव छिपा है। इन वृक्षों को देवतुल्य मानने का आधार भी वैज्ञानिक है। यदि हम अपनी परम्पराओं का गहन विश्लेषण करें तो यह साफ़ दृष्टिगोचर होता है कि परम्परा का उद्भव मानव कल्याण और जीवन को विकसित करने के लिए हुआ है। शुरुआत तुलसी के पौधे से ही करें तो ध्यातव्य है कि तुलसी अनवरत ऑक्सिजन की आपूर्ति करता है, पर्यावरण को शुद्ध और स्वच्छ रखता है, यह औषधीय वृक्ष के रूप में भी प्रयुक्त होता है। यदि इन सम्यक परम्पराओं का उद्भव नहीं हुआ होता तो आज से कई सौ वर्ष पहले पर्यावरण का क्षय हो जाता और मानव जाति का अस्तित्व ख़तरे में पड़ गया होता।

"हमारे पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें राक्षस कहा गया। खेती के फैलाव के लिए जंगलों को काटने, जलाने,का विरोध किया तो दुष्ट कहलाये। उन पर आक्रमण हुए और उन्हें खदेड़ा गया लेकिन बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की हार अपने पूरे इतिहास की हर थी। इस बार कथा-कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। बड़े उद्योग-धंधे और बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के स्थापित होने से लाखों आदिवासी लोगों को विस्थापित होना पड़ा।"[5]

आदिवासी संस्कृति की एक अपनी विशेषता है। हम आदिवासी संस्कृति, परम्परा, जीवनशैली और पर्व-त्योहारों का सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो कई तरह के विकासात्मक तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। सदियों से आदिवासियों को पिछड़ा माना जाता रहा है लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। आदिवासी संस्कृति में जो परम्पराएँ हैं उन सभी का वैज्ञानिक दृष्टिकोण और संवेदना से युक्त मानवीय आधार रहा है। हाँ, यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि वनवासियों तक शिक्षा की किरण देर से पहुँची है। वे औपचारिक शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके क्योंकि वे सुदूर जंगलों में रहते थे। उनके पास आवागमन के लिए समुचित साधन उपलब्ध नहीं थे। वे औपचारिक शिक्षा से भले ही वंचित रह गए हों लेकिन अपने अनौपचारिक स्रोतों से वे भलीभांति परिचित थे। सामाजिकता में शांति, समरसता और भाईचारे की भावना उनके भीतर सदैव से विद्यमान है। इनकी आवश्यकताएँ सदैव न्यूनतम रहीं इसलिए वे संतुष्ट रहे और अपने बुजुर्गों से थाती के रूप में प्राप्त परम्परागत शिक्षा का उपयोग जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए करते रहे। यही मनुष्य के जीवन का मूल आधार और ज़रूरत भी है। आदिवासियों की अपनी संस्कृति, भाषा और परम्पराएँ हैं। इन परम्पराओं के भीतर सामूहिक जीवन, सामूहिक उत्तरदायित्व और भावनात्मकता रग-रग में भरी है। यही कारण है कि इनमें पारस्परिक विश्वास और संबंधों की स्वाभाविकता कायम है। ये केवल सहज़, सरल और प्राकृतिक जीवन जीते हैं जो पर्यावरण को संरक्षित करने का महत्वपूर्ण कारक है। इनकी अर्थव्यवस्था में हवा की तरह जल, जंगल और ज़मीन भी व्यक्तिगत न होकर सानुदायिक संसाधन हैं।[6]

टोटेमवाद

आदिवासी समाजों में मानव समुदाय के बीच संबंधों के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें से एक टोटेमवाद भी है। यह सम्बन्ध सहोदर भाई-बहन की तरह होता है। आदिवासी समुदाय किसी न किसी रूप में टोटेम से ख़ुद को जुड़ा हुआ महसूस करता है। इससे इनका संबंध अनुवांशिक होता है। यह टोटेम किसी जीव-जन्तु, पेंड़-पौधे अथवा पक्षी से हो सकता है। इन्हीं संबंधों के आधार पर आदिवासी इनके प्रति श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और सम्मान रखकर उनकी अराधना करते हैं। टोटेम पर यदि कोई आपदा आती है तो इससे जुड़े आदिवासी पर इस आपदा की संभावना व्यक्त की जाती है। ये टोटेम से संबंधित जीव को स्पर्श करना अथवा उनका शिकार करना उचित नहीं मानते। टोटेम एक प्रकार का गणचिह्न है जो किसी समाज के उस भरोसे को प्रकट करता है जिसका उनके जीवन में व्यापक महत्व होता है। यदि टोटेम को विश्लेषित किया जाए तो यह प्रकृतिवाद और मानवतावाद का अप्रतिम उदाहरण है। शायद टोटेम का संबंध जीव-जगत से जुड़ाव व प्रकृति प्रेम हो सकता है जो कि प्रकृति को संरक्षित करने का प्राचीन नियम है। यदि किसी जीव-जन्तु अथवा पशु-पक्षी को हम घर में पालते हैं तो यह स्वाभाविक है कि उससे हमारा लगाव हो जाता है तब उसके साथ अमानवीय व्यवहार नहीं किया जाता, यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे हम अपने द्वारा रोपे हुए पौधे को नहीं काटते हैं। शायद इसी प्रकार के भाव ने टोटेमवाद का रूप धारण कर लिया होगा जो आज जैविक संतुलन को बनाये रखने में और पर्यावरण को संरक्षित करने में अपनी महती भूमिका अदा करता है। इसे दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है कि इस परम्परा के द्वारा हर एक व्यक्ति के माध्यम से किसी न किसी जैव समुदाय अथवा वनस्पति को संरक्षण प्रदान करने का संकल्प लिया जाता है। इस तरह के लिए गए प्रण से न केवल जैव समुदाय अथवा वनों की रक्षा होती है, बल्कि मानव जीवन के दृष्टिकोण को भी प्रतिपादित किया जाता है।[7]

टोटेम एक प्रकार से रक्ष संस्कृति है। यहाँ रक्ष का अर्थ रक्षा करना है। इस प्रकार, प्रकृति और पर्यावरण का संरक्षण हमारी परंपरा का हिस्सा है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि आदिवासी तन और मन दोनों से पर्यावरण से जुड़े रहते हैं। यही लगाव उनके सामाजिक परम्पराओं में भी परिलक्षित होता है। पर्यावरण के संदर्भ में आदिवासी समाज की समझ, ज्ञान तथा अनुभव व्यापक है। यही समझ उसकी सांस्कृतिक धरोहर का आधार है, किंतु वर्तमान समय में यह भी

चिंतनीय है कि तथाकथित शिक्षित युवा पीढ़ी का आदिवासी समाज अपनी मूल संस्कृति से दूर होता जा रहा है। इस गंभीर समस्या पर विचार केवल वनवासी समाज को ही नहीं, बल्कि समस्त मानव समाज को करना होगा तथा इन पुरातन परम्पराओं को अपने जीवन के साथ जोड़कर पर्यावरण संतुलन को बनाए रखने में अपना योगदान देना होगा।[8]

वन और आदिवासियों के बीच गहरा सम्बन्ध है। इनकी संस्कृति मूल रूप से अरण्य संस्कृति रही है। वन और वन्यजीवों को वहाँ के स्थानीय जंगलवासियों के द्वारा अपने परिवार के हिस्से के रूप में स्वीकार किया गया है। आदिवासी समुदाय के लोगों द्वारा जंगलों में उन्मुक्त रहकर वहीं से अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति करते हुए सदैव वनों को सुरक्षा प्रदान करने का कार्य किया है। विगत कुछ दशकों में जंगल और जंगलवासियों के बीच दूरियाँ बढ़ गई है। वन और वन्यजीवों के स्वाभाविक मित्र बताए जानेवाले आदिवासियों को अब वन विरोधी बताते हुए उनके नैसर्गिक अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। संचय और लाभ के उद्देश्य पर आधारित स्वार्थी आधुनिक व्यवस्था ने आदिवासियों की आर्थिक स्थिति को कमजोर कर दिया।[9]

आदिवासियों का कहना है कि एक ओर पर्यावरण को स्वच्छ रखने के लिए देश-विदेश में गोष्ठियाँ रखी जा रही हैं, नए नए कानून निर्मित किये जा रहे हैं और हम जो इसे बचाने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहे हैं तो हमें ही जंगलों से विरमित किया जा रहा है। समृद्ध नैसर्गिक संसाधन आदिवासी समाज के लिए अभिशाप बन गए हैं। इसी कारण से ऐसा प्रतीत होता है कि विस्थापन, बिखराव, विपन्नता और विनाश ही मानो उसकी नियति बन गई है।[10]

निष्कर्ष

आदिवासियों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि 21 वीं सदी के विकास का दौर इन्हें हाशिये पर धकेल दिया है। इस धरती का मूलनिवासी ही अपना अस्तित्व बचाने के लिए जद्दोजहद कर रहा है। आज उसका जीवन अभावग्रस्त है। कथित विकास के नाम पर आदिवासी विनाश की ओर आगे बढ़ रहे हैं। सरकार के विकास की नीतियों से आदिवासियों को शोषण, विस्थापन और पलायन ही उपहार स्वरूप प्राप्त हुए हैं। इनके जीवन का आधार जल, जंगल और ज़मीन से ही इन्हें महरूम किया जा रहा है। अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे वनोन्मूलन को रोका जा सके ताकि आदिवासियों के आजीविका के साधनों की कमी न हो, इनके क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना कम-से-कम की जाए तथा इनके विस्थापन को भी रोका जा सके।

सन्दर्भ सूची

1. मुण्डा, डॉ रामदयाल (2002), आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ-30
2. तलवार, प्रो. वीर भारत (2008), झारखण्ड के आदिवासियों के बीच: एक एक्टिविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ-46
3. कालजयी, किशन, सबलोग विशेषांक, आदिवासियत पर आंच, जनवरी 2011, पृष्ठ संख्या-10
4. गुप्ता, रमणिका (2016), आदिवासी कौन ?, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-19
5. मीणा, हरिराम (2021), आदिवासी दुनियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, पृष्ठ-35
6. मुण्डा, डॉ रामदयाल (2002), आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ-35
7. हसनैन, नदीम (2020), जनजातीय भारत, जवाहर बुक डिपो, नई दिल्ली, पृष्ठ-73
8. दोषी,एस.एल(2009), समकालीन मानवशास्त्र, रावत प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ- 292
9. गुप्ता, रमणिका(2004), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृष्ठ-60
10. शर्मा, ब्रह्मदेव(2001), आदिवासी स्वशासन, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ- 5

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका
SJIF 2023 = 7.858, ISSN: 2277-7857
वर्ष: 16, अंक: 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

वैश्वीकरण के दौर में जनजातीय समाज: समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

धीरज प्रताप मित्र[1], अवधेश कुमार[2]
[1,2] शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
ई-मेल: dpmitra031@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत लेख विश्वव्यापी वैश्वीकरण की वर्तमान प्रक्रिया के अंतर्गत भारतीय जनजाति समूहों पर पड़ने वाले प्रभावों को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने का एक प्रयास है । इसके अंतर्गत जनजातीय समुदाय की विशेषताओं, वैश्वीकरण की प्रक्रिया एवं इस प्रक्रियान्तर्गत जनजातीय समुदायों की संस्कृति एवं उनके सामाजिक संबंधों के स्वरूपों में होने वाले परिवर्तनों को समझने का प्रयास किया गया है । किस प्रकार वैश्वीकरण विश्वव्यवस्था को प्रभावित करते हुए भारत में आई तथा उसके परिणामस्वरूप प्रारंभ हुए विकास कार्यक्रमों ने कैसे जनजातीय समूहों को सकारात्मक एवं नकारात्मक रूप से प्रभावित किया इन सबकी तरफ ध्यानाकर्षण का प्रयास किया गया है।

बीज-शब्द: *आदिवासी, वैश्वीकरण, समाज, संस्कृति, परिवर्तन, विकास, पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण।*

प्रस्तावना

जनजातियों संबंधी अध्ययन सामान्यतः मानवशास्त्र के अंतर्गत वृहद् स्तर पर किए गए और वर्तमान में भी जारी हैं। जनजाति शब्द के प्रयोग की यदि बात की जाए तो विभिन्न शैक्षणिक विषयों के अंतर्गत सामान्यतः इसका प्रयोग नहीं किया जाता बल्कि इसके स्थान पर आदिवासी, देशज अथवा जैसा कि अमेरिका में इन्हें इंडियन कहा जाता है जैसे शब्दों का प्रयोग प्रचलित है। हमारे देश में जनजाति शब्द का प्रयोग ब्रिटिश काल के बाद प्रचलन में आया । जनजाति किसे कहेंगे इस विषय में अलग अलग विद्वानों के द्वारा उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक गुणों के आधार पर विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स के अनुसार, "जनजाति एक साधारण प्रकार के सामाजिक समूह हैं जिसके सदस्य एक सामान्य बोली बोलते हैं, जिनकी एक ही सरकार होती है और युद्ध जैसे सामान्य उद्देश्यों के लिए मिलकर कार्य करते हैं।"

बी. के. रॉय बर्मन के अनुसार, " एक जनजाति को तकनीकी आर्थिक सांस्कृतिक विकास और मनुष्य और प्रकृति के संबंध में एक चरण के रूप में समझा जाना चाहिए..."

लुसी मैयर के अनुसार, "एक जनजाति एक आम संस्कृति के साथ आबादी का एक स्वतंत्र राजनीतिक विभाजन है।"

राल्फ लिंटन के अनुसार, "अपने सबसे सरल रूप में, जनजाति समुदायों का एक समूह है जो एक निकटवर्ती क्षेत्र या क्षेत्रों पर कब्जा कर लेता है और संस्कृति में कई समानताओं, लगातार संपर्क, और रुचि के एक निश्चित समुदाय से प्राप्त एकता की भावना रखता है।"

जनजाति: अर्थ एवं विशेषताएं

भारत में जनजाति से तात्पर्य उन विशिष्ट समुदायों से है जिनकी विशिष्ट संस्कृति होती है तथा विकास के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए अभी भी मुख्यधारा के समाज से पिछड़े हुए । चूँकि भारत में सैकड़ों जनजातियाँ निवास करती हैं इसलिए सबमें ही एक सामान सांस्कृतिक-सामाजिक विशिष्टताएं विद्यमान हो यह आवश्यक नहीं है। ओड़िसा की कुछ जनजातियों में व्यवसाय एवं पवित्रता-अपवित्रता के आधार पर पाए जाने वाले पद सोपान एवं सामाजिक दूरी की व्यवस्था भारतीय ग्रामीण समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था के सामान है जो सामान्यतः जनजातियों में प्रचलित नहीं माना जाता है। भौगोलिक परिस्थितियों एवं तदनुरूप सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद भी जनजातियों की कुछ सामान्य विशिष्टताएं अधोलिखित हैं-

1. विशेष भूगोल
2. विशिष्ट सांस्कृतिक प्रथाएं
3. भाषा / बोली
4. समतावादी प्रकृति
5. कोई पदानुक्रम नहीं
6. अंतर्विवाही समूह
7. व्यावसायिक विशेषज्ञता का अभाव
8. आर्थिक गतिविधियों में पारंपरिक तकनीक
9. रिश्तेदारी पर आधारित सामाजिक तंत्रव्यवस्था

एस.सी. दुबे (1990) ने भारत में निवासरत आदिवासी(जनजाति) समूहों की निम्नलिखित विशेषताओं को बताया है-

1. आदिवासी मूल निवासी नहीं बल्कि भारत भूमि के सबसे पुराने निवासी हैं। इस भूमि पर सर्वप्रथम बसने वाले होने के कारण आदिवासियों को स्वदेशी आबादी के रूप में माना जाता है ।
2. भारत में गैर-आदिवासियों के साथ-साथ आदिवासी आबादी सदियों से रह रही है ।
3. किन्हीं कारणों से शायद ये आबादी दूरदराज के इलाकों में या मुख्यधारा के समाज से अलग रहने के लिए मजबूर थी हालांकि मूल रूप से ऐसा हमेशा नहीं था कि वे वनवासी थे ।
4. पारंपरिक तकनीकी आर्थिक विशेषताएं केवल निर्वाह स्तर की हैं ।
5. कुछ जनजातियों को छोड़कर जिनके नेता शासक या भूमि मालिक (गोंड, अहोम, पेरोस) हैं अधिकांश समुदाय गैर-श्रेणीबद्ध और अविभाज्य हैं ।
6. सांस्कृतिक विशेषताएं लगभग प्रत्येक समुदाय के लिए अलग हैं यथा भाषा, विश्वास, विश्वदृष्टि, रीति-रिवाज, और इसी तरह अन्य ।

भारत की जनगणना 2011 के आंकड़ों के अनुसार देश में आदिवासी आबादी का वितरण देश के पूर्वी, मध्य और पश्चिमी भागों में सर्वाधिक है। कुल आदिवासी आबादी के 14.69% के साथ मध्य प्रदेश शीर्ष स्थान पर है, इसके बाद महाराष्ट्र में 10.08%, उड़ीसा में 9.02%, राजस्थान में 8.86%, गुजरात में 8.55%, झारखंड में 8.29%, छत्तीसगढ़ में 75%, आंध्र प्रदेश में 5.7% और इसी तरह मिजोरम 94.5% के साथ सबसे अधिक जनजातीय आबादी वाला राज्य है और लक्षद्वीप 94.8% के साथ सबसे अधिक जनजातीय आबादी वाला केंद्र शासित प्रदेश है। उत्तर-पूर्वी राज्यों में आदिवासी आबादी का लगभग 12% हिस्सा है, इसके बाद दक्षिणी क्षेत्र में 5% और उत्तरी क्षेत्र में 3% आबादी है।

वैश्वीकरण: अर्थ एवं परिभाषा

मानव इतिहास में यह पहली बार है कि **स्थानीय** और **वैश्वीय** (Local and Global) लोग एकसूत्र में बंध गये हैं। यह सब कुछ पिछले कुछेक दशकों में ही संभव हो सका है और दूसरा कारण संचार के साधनों में वृद्धि, सूचना तकनीक और आवागमन के साधन की पर्याप्त उपलब्धता है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को जोड़ने का काम बड़े बड़े जेट हवाई जहाज एवं तीव्रगति से चलने वाले जहाज करते हैं। एक देश का उत्पाद दूसरे देश पहुंच जाता है। पिछले लगभग तीस वर्षों में सेटेलाइट संचार व्यवस्था का विकास इस भांति हुआ है कि दुनिया के लोग एक-दूसरे के साथ घर बैठे सम्पर्क कर सकते हैं। **इन सब प्रक्रियाओं को जो दुनियां भर के सामाजिक सम्बन्धों को गहरा और घनिष्ठ कर रही हैं, समाजशास्त्री वैश्वीकरण कहते हैं।** हमें वैश्वीकरण को केवल दुनिया को जोड़ने वाले एक नेटवर्क की तरह ही नहीं देखना चाहिये। केवल यही नहीं समझना चाहिये कि वैश्वीकरण हमें एक अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सूत्र में बांधने वाला है। यह सब तो वैश्वीकरण की प्रक्रिया करती ही है, पर इससे आगे वैश्वीकरण हमारे स्थानीय दिन-प्रतिदिन के जीवन को भी प्रभावित करता है। यह भी समझना चाहिये कि जहां वैश्वीकरण लोगों को एक-दूसरे के निकट लाता है, वहीं उनमें तनाव भी पैदा कर रहा है। स्थानीय संस्कृति और बाजार को वैश्वीय संस्कृति तथा बाजार का भय सदैव बना रहता है। यह लगता है कि वैश्वीय संगीत कहीं हमारे स्थानीय संगीत - भोजपुरी नाच गाने, दादरा, ठुमरी, गुजराती गरबे और महाराष्ट्र के तमाशों आदि को विलुप्त न कर दे। आर्थिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार का भय सदैव बना रहता है।

वैश्वीकरण की वर्तमान प्रवृत्तियां बहुत पुरानी नहीं हैं। पिछले कुछेक दशकों की इस अवधि में समाजशास्त्रियों ने इसे सिद्धान्तगत करने का प्रयत्न किया है। वैश्वीकरण का सिद्धान वैश्वीय सांस्कृतिक व्यवस्था (Global Cultural System) की पड़ताल करता है। इसका कहना है कि जिस वैश्वीय संस्कृति को आज हम देखते हैं इसे व्यवहारगत करने वाले कई प्रकार के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास हैं। इन विकासों में सेटेलाइट-सूचना व्यवस्था उपयोग के वैश्वीय प्रतिमान का उद्गम और कॉस्मोपोलिटन जीवन पद्धति का आविर्भाव महत्वपूर्ण है। वैश्वीय खेल-कूद और विश्व पर्यटन ने भी वैश्वीकरण को बढ़ावा दिया है। दूसरी ओर अन्य कई चौंकाने वाले परिवर्तन भी दिखाई देते हैं। वैश्वीकरण के कारण उदारीकरण और निजीकरण भी आये। इन्होंने राष्ट्र-राज्यों की भूमिका को कमजोर बना दिया। अब वैश्वीय सैनिक व्यवस्था (World Military System) कायम हो गई है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना कार्रवाई के लिये सदैव तैयार रहती है। वैश्वीकरण ने स्वास्थ्य सेवाओं और पर्यावरण को भी सम्पूर्ण संसार की समस्या बना दिया है। चेचक उन्मूलन, मलेरिया की समाप्ति,कोविड आदि अब सामान्य स्वास्थ्य समस्यायें बन गई हैं। कुछ सामाजिक संस्थाएँ होती हैं जिनकी व्यापकता सार्वभौमिक हो गई है। इन संस्थाओं में राजनीतिक मार्क्सवादी आन्दोलन, मानव अधिकार और विभिन्न धर्मों का पारम्परिक परिवर्तन सम्मिलित है। सबसे बड़ी बात यह है कि अब एक ऐसा सोच विकसित हो गई है जो सम्पूर्ण संसार को एक इकाई मानकर चलती है। गुजरात के कच्छ-भुज में भूकंप आता है या तुर्की,नेपाल की धरती हिलने लगती है, तो सम्पूर्ण संसार सहयोग के लिये तत्पर हो जाता है। कुल मिलाकर वैश्वीकरण एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें भौगोलिक दबाव कमजोर हो गये हैं और इसी तरह सांस्कृतिक और सामाजिक संबंधों की कसावट भी ढीली पड़ गई है।

एन्थोनी गिडेन्स (Anthony Giddens) की वैश्वीकरण के सैद्धान्तीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि कान्सीक्वेन्सेज ऑफ मॉडर्निटी' (The Consequences of Modernity, 1990) में वैश्वीकरण की व्याख्या विस्तारपूर्वक की है। उनका कहना है कि आधुनिकता का बहुत बड़ा परिणाम वैश्वीकरण है। यह इसलिये कि वैश्वीकरण में समय (Time) और स्थान (Space) को सामाजिक जीवन में नये सिरे से परिभाषित किया गया है। गिडेन्स इसे समय-स्थान दूरीकरण (Time-space distanciation) कहते हैं। अपनी इस अवधारणा के स्पष्टीकरण में वे कहते हैं कि आज की

दुनिया में संचार और उत्पादन तथा विनिमय की जो जटिल व्यवस्था बनी है उसने सम्पूर्ण स्थानीयता को कमजोर कर दिया है। उदाहरण के लिये खनिज पदार्थों का विश्व में जो भाव है, वह स्थानीय खदान श्रमिकों को अधिक पगार दिलवा सकता है या उन्हें बेरोजगार भी कर सकता है।

गिडेन्स के अनुसार, "वैश्वीकरण विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के बीच बढ़ती हुई अन्योन्याश्रितता या पारस्परिकता ही वैश्वीकरण है। यह पारस्परिकता सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों में होती है। इसमें समय और स्थान सिमट जाते हैं।"

भारत में 1991 में लागू नई आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप निजीकरण एवं वैश्वीकरण को प्रत्साहन मिला। इसके साथ भी भारत सरकार ने 1993 में खान एवं खनिज विनियमन और विकास अधिनियम में नई आर्थिक नीति के अनुरूप संसोधन किया तथा आने वाले वर्षों में विदेशी निवेश को अधिकाधिक आकर्षित करने के लिए और भी संसोधन किए गए। इस सबके परिणामस्वरूप जंगलों एवं अन्य प्राकृतिक संसाधनों यथा खदानों आदि के आस पास रहने वाले जनजाति समुदाय के व्यक्तियों को विस्थापन आदि के रूप में भारी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षति उठानी पड़ी।

वैश्वीकरण: जनजातियों पर प्रभाव

भारत में जनजातियाँ भिन्न भिन्न क्षेत्रों में फैली हुई हैं साथ ही साथ आर्थिक-सामाजिक विकास की दृष्टि से हाशिए पर पड़ी हुई हैं किन्तु वैश्वीकरण की प्रक्रिया के चपेट में ये सभी सामान रूप से एक सजातीय समूह के रूप में आई। वैश्वीकरण ने जिस विकास के सपने दिखाए उसकी कीमत इन जनजातीय समूहों ने अपने घर, समाज एवं संस्कृति को खो कर चुकाया। वैश्वीकरण इन समूहों के लिए एक मिश्रित प्रभाव वाला रहा जिसमें कुछ लाभ और ज्यादा चुनौतियां छिपी हुई हैं। इसने ना केवल उनकी सांस्कृतिक स्वायत्तता के लिए ख़तरा पैदा कर दिया बल्कि कई अन्य समस्याएँ यथा विस्थापन, अलगाव आदि के माध्यम से इनके अस्तित्व पर ही ख़तरा पैदा कर दिया।

विश्व बैंक के 1994 में आई एक रिपोर्ट के अनुसार विकास परियोजनाएं हर साल विकासशील देशों में दस लाख लोगों को उनकी भूमि और घरों से अनैच्छिक रूप से विस्थापित करती हैं। भारत 2002 के अनुसार अकेले भारत में, 1951 से 1990 के बीच लगभग 21.3 मिलियन लोग विकास परियोजनाओं से विस्थापित हुए। इस संख्या में 8.54 मिलियन (40 प्रतिशत) आदिवासी या स्वदेशी लोग थे और जिनमें से केवल 2.12 मिलियन (24.8 प्रतिशत) का पुनर्वास किया गया था।

"विकास परियोजनाएं अनुसूचित जातियों और जनजातीय समूहों सहित भारतीय समाज के सबसे गरीब वर्गों को असमान रूप से प्रभावित करती हैं, और आजीविका, भूमि, संपत्ति और सामाजिक संरचना के नुकसान के कारण उन्हें और भी अधिक दरिद्रता की ओर धकेलती है। स्वदेशी लोगों के लिए एक हालिया चिंता घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों, सरकारों और मुख्य रूप से कृषि-सांस्कृतिक उद्देश्यों के लिए उपयोग किए जाने वाले व्यक्तियों द्वारा भूमि हथियाने या बड़े पैमाने पर भूमि अधिग्रहण है। ये बड़े पैमाने पर कृषि निवेश आमतौर पर पर्याप्त मुआवजे के बिना स्थानीय लोगों के विस्थापन का कारण बनते हैं। संसाधनों की कमी के आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और पर्यावरणीय प्रभाव परस्पर जुड़े हुए हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजाति देश की कुल जनसंख्या का लगभग 8.2 प्रतिशत है वे कुल विस्थापित आबादी का 55.16 प्रतिशत भी थे, जो जनजातियों के उत्पीड़न की सीमा को दर्शाता है। जनजातियों का विकास-प्रेरित अनैच्छिक विस्थापन अधिकांश राज्यों में होता है, मुख्यतः बिहार, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, मध्य

प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र के आदिवासी केंद्रित क्षेत्रों में। इसके अलावा, यह देखा गया है कि पिछले 60 वर्षों के दौरान, विभिन्न बांध परियोजनाओं के लिए लगभग 6 करोड़ लोग विस्थापित हुए हैं, जिनमें से 4 करोड़ व्यावहारिक रूप से सड़कों पर भिखारी बन गए हैं"(त्रिपाठी, 2003 रंगाचारी, 2006: फर्नांडिस 2007)।

वाल्टर फर्नांडीस और वी परांजपे ने अपने अध्ययन के आधार पर अनुमान लगाया कि भारत में 213 लाख विस्थापित लोगों में से, विभिन्न वजहों द्वारा विस्थापित लोगों की संख्या इस प्रकार है-

1. बड़े और मध्यम बांधों द्वारा 164 लाख,
2. खानों द्वारा 25.5 लाख,
3. उद्योगों द्वारा 12.5 लाख,
4. उद्यान और वन्यजीव संचालन द्वारा 6 लाख और
5. अन्य परियोजनाओं द्वारा 5 लाख

विकास परियोजनाओं की वजह से होने वाले विस्थापन आदि के प्रमुख कारणों में बांधों के निर्माण की वजह से होने वाला विस्थापन सबसे बड़ा कारण है। देश में 1951-90 के दौरान कुल 3,643 बांध (प्रमुख और मध्यम) बनाए गए जिनकी वजह से सिर्फ माध्यम स्तर के बांधों के क्षेत्रान्तर्गत आने वाले 53.9 लाख लोगों को विस्थापन का सामना करना पड़ा यदि सभी बांधों के प्रभाव को देखा जाए तो कुल 164 लाख लोग विस्थापन के शिकार हुए।

सेरेनिया का कहना है कि "विस्थापन या स्थानांतरण लोगों को बदतर स्थिति में छोड़ देता है और लोगों के कुछ सामाजिक समूहों को सामाजिक बहिष्कार की ओर ले जाता है। यह एक भौगोलिक क्षेत्र से भौतिक बहिष्कार और कार्यशील सामाजिक तंत्रव्यवस्था के एक समूह से आर्थिक और सामाजिक बहिष्कार में परिणत होता है। इस प्रकार प्रभावित लोगों को दरिद्रता जोखिमों की एक विस्तृत श्रृंखला का सामना करना पड़ता है जिसमें निम्नलिखित शामिल हैं:

1. भूमिहीनता
2. बेरोजगारी
3. बेघर होना
4. हाशियाकरण
5. भोजन की असुरक्षा
6. बढ़ी हुई रुग्णता
7. सामान्य संसाधनों की हानि और
8. सामाजिक विघटन जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक सहनशीलता में कमी आती है।"

जनजातीय सामाजिक संगठन पर सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव

कोई भी समाज हो वह निरंतर परिवर्तन से गुजरता रहता है किन्तु उनमें परिवर्तन की दर आस-पास की घटनाओं, सांस्कृतिक संपर्क आदि की वजह से इतनी धीमी गति से घटित होती है कि समाज विशेष में घटित होने वाले संरचनात्मक परिवर्तन जल्दी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। सामाजिक परिवर्तन की दिशा किस प्रकार की होगी वह उस समाज को विकास के पथ पर ले जाएगी अथवा विनाश की ओर यह इस बात पर निर्भर करता है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में किस प्रकार का हस्तक्षेप किया गया है अथवा किन कारणों से वह प्रभावित है। परिवर्तन एक प्रक्रिया है और प्रथा एक उत्पाद। प्रथा, प्रक्रिया को समाप्त कर देती है। सामजिक परिवर्तन सर्वप्रथम संबंधों में होने वाले परिवर्तनों में परिलक्षित होता है

तदुपरांत सामाजिक संरचना में उसका प्रभाव दिखना प्रारंभ होता है। कुछ प्रमुख सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ निम्नलिखित हैं जो आदिवासी सामाजिक संगठन में बदलाव लाती हैं-

1. संस्कृतिकरण
2. आधुनिकीकरण
3. शहरीकरण
4. औद्योगिकीकरण
5. वैश्वीकरण

प्रख्यात अमेरिकी मानवविज्ञानी **रॉबर्ट रेडफील्ड** ने अपनी पुस्तक 'पीजेंट्स सोसाइटी एंड कल्चर' (1956) में मैक्सिकन समुदायों का अध्ययन करते हुए 'ग्रेट ट्रेडिशन एंड लिटिल ट्रेडिशन' (वृहद एवं लघु परंपरा) की अवधारणा का उपयोग किया। **मिल्टन सिंगर** और **मैकिम मारिएट** ने सामाजिक परिवर्तन प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए भारतीय संदर्भ में इन अवधारणाओं को उपयोग किया। उन्होंने देखा कि ओडिशा के संथालों, पश्चिम बंगाल और झारखंड के मुंडाओं के छऊ नृत्य को संशोधन के साथ उच्च जाति समूहों द्वारा सहरूप से चुना गया है। इसने इन समुदायों के पारंपरिक छऊ नृत्य पद्धिति को आधुनिक भी बनाया है।

इसी प्रकार **एम. एन. श्रीनिवास** ने अपनी पुस्तक 'रिलिजन एंड सोसाइटी अमंग द कूर्गस ऑफ साउथ इंडिया' (1952) में संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण और धर्मनिरपेक्षता जैसी विभिन्न सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के माध्यम से जातियों और भारत के जनजातीय समाजों में देखे गए परिवर्तनों का वर्णन किया। संस्कृतिकरण के सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के कारण ओड़िसा के शुद्ध सोरा ने शराब और गोमांस का सेवन छोड़ दिया और तुलसी के पेड़ और देवी लक्ष्मी की पूजा करने लगे।

भारत में वैश्वीकरण प्रेरित पश्चिमीकरण के फलस्वरूप कई संस्थागत सुधार, वैज्ञानिक प्रगति, शैक्षणिक संस्थाओं आदि की स्थापना हुई जिसके प्रभावों के अंतर्गत जनजातीय समुदाय भी आया। इससे वो लोग ना केवल शिक्षित, कुशल एवं मुख्यधारा में समायोजन के अनुकूल बनें बल्कि अपने व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति सचेत हो कर उनकी मांग को भी उठाना प्रारंभ किया। वैश्वीकरण के फलस्वरूप इनके विश्वासों, संस्थागत व्यवस्था एवं कार्य करने के तरीको में अनेक परिवर्तन हुए।

वैश्वीकरण के प्रभाव से स्थानीय जनजातीय समुदाय के लोग नई आधुनिक तकनीकियों से परिचित हुए एवं उसके माध्यम से विश्व व्यवस्था से सीधे जुड़ गए। इस प्रकार ना ये केवल गैर आदिवासी समुदायों से मिलने जुलने में सक्षम हुए बल्कि वैश्विक दृष्टिकोण से भी परिचित हुए। वैश्वीकरण नें सूक्ष्म स्तर पर इन समुदायों के पहनावे, खान-पान, विश्वास एवं रीति-रिवाज को प्रभावित किया तो वृहद् स्तर पर उनकी सांगठनिक व्यवस्था, क़ानून प्रणाली आदि में महत्वपूर्ण बदलाव लाया।

निष्कर्ष

पहले के समय में लोग अपने गाँवों या जहाँ भी निवासरत होते थे वहीं उनकी दिन प्रतिदिन की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ती हो जाती थी किन्तु वर्तमान में परिस्थितियां परिवर्तित हो गई हैं। ना केवल लोगों की आवश्यकताओं में वृद्धि हुई है बल्कि साथ ही साथ उपयोग के संसाधनों की उपलब्धता में भी विभिन्नता के साथ बढ़ोतरी हुई है। यातायात एवं सूचना तकनीकी के विकास के साथ वस्तुओं एवं सेवाओं का आदान प्रदान एक क्षेत्र से दूसरे यहाँ तक कि देशांतर तक संभव हुआ है। इस सबके कारण परस्पर एक दूसरे पर आश्रित एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का जन्म हुआ है जो दुनिया के लगभग प्रत्येक समाज को सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से प्रभावित करती है।

वैश्वीकरण की शुरूआत तभी से हो गई जब यूरोपीय देश विश्व के अन्य क्षेत्रों में अपना प्रभाव जमाने के लिए फैलने लगे थे । हमारे देश में स्वतंत्रा के पश्चात संविधान लागू होने के उपरांत सामाजिक संरचना में कई बाध्यकारी परिवर्तन घटित होने प्रारम्भ हुए साथ ही साथ भारत की कृषि आधारित अर्थव्यवस्था उद्योगों की तरफ मुड़ चली। औद्योगीकरण ने सामाजिक परिवर्तन एवं संबंधों के तात्कालिक हित आधारित नए स्वरूपों को जन्म दिया । सदियों से चला आ रहा जाति आधारित समाज अब वर्ग समाज में परिवर्तित होने लगा था। कई भारतीय विचारक जैसे जी.एस. घुर्ये, एन.के. बोस, सुरजीत सिन्हा, कुप्पुस्वामी, योगेंद्र सिंह, एस.सी. दुबे और एम.एन. श्रीनिवास ने भारत में सामाजिक परिस्थितियों में बदलाव की समस्याओं से जूझते हुए व्यक्ति को एक जनजाति या एक गांव या जाति या एक पंथ या एक भाषा समूह के सदस्य से भारत के नागरिक में बदलने पर जोर दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देश में संस्कृतियों के विलयन-एकीकरण की प्रक्रिया तेज़ी से आगे बढ़नी प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप कुछ जनजातियाँ मुख्यधारा के समाजों की संस्कृतियों के साथ खुद का समायोजन करने में सफल हुई तो कुछ असफल समायोजन एवं अन्य प्राकृतिक-कृत्रिम कारणों से विलुप्ति के कगार पर पहुँच गई । अब भारतीय संविधान में विकास के बढ़ते प्रभाव के साथ(अनुच्छेद 341 और 342) जनजाति जो देश की सामाजिक संरचना का सबसे अभिन्न अंग है, परिवर्तन के निर्देशित और गैर-निर्देशित तरीकों से लाभान्वित हो रहे हैं।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है जो सर्वकालिक एवं सर्वस्थानिक है । जनजातीय समाज भी इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि कि जनजातीय संस्कृति मुख्यधारा के समाज से कई मायनों में अलग एवं विशिष्ट है जिसका प्रत्यक्षीकरण वे अपने सामाजिक-राजनीतिक संगठनों, भाषा, रीति-रिवाजों, त्यौहारों एवं तकनीकियों आदि के माध्यम से करते हैं तथापि वैश्वीकरण के फलस्वरूप जनजातीय एवं गैर जनजातीय समूहों के बीच बढ़ते संपर्क ने इनके परम्परागत प्राधिकरण प्रणालियों की प्रभावशीलता में कमी लाई है साथ ही साथ ये अब बाहरी शक्तियों पर आश्रित हो रहे हैं । इन समूहों ने बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपनी परम्पराओं, सम्बन्ध व्यवस्था आदि में बदलाव किया है ।

सन्दर्भ

1. Guha, R. (1983). Forestry in British and post-British India: A historical analysis, Economic and Political Weekly 18(45/46). pp. 1940-1947
2. Census of India. (2011). District census hand book. Andaman and Nicobar Series 36 Part XII-A. Directorate of Census Operations A & N Islands.
3. Majumdar, D.N., & Madan. TN. (1986). An introduction to social anthropology. New Delhi: Mayur Books.
4. Castells, M. (1996). The rise of the network society.Oxford and Malden, Mass:Blackwell Publishers.
5. Cernea, M.M. (1991). Involuntary resettlement: Social research, policy and planning. pp.188-216 in M.M. Cernea (Ed.), Putting People First: Sociological Variables in Development. New York and London: Oxford University Press.
6. Femandes, Walter and Paranjpye. V. (1997).Rehabilitation policy and law in India- A right to livelihood. Indian Social Institute, New Delhi. p 15.
7. Government of India.(2002). Tenth five year plan (2002-2007), Vol. II, Sectoral Policies and Programmes. New Delhi: Planning Commission.
8. Neelmani, J., Saha, S. (2014). Marginalisation of tribal communities due to globalization.Indian Journal of Dalit and Tribal Studies (IJDTS) Volume-2, Issue-2,pages 37-54.
9. World Bank (2004). Involuntary Resettlement Sourcebook - Planning and Implementation in Development Projects, Washington: printed by the World Bank, available at http://www.wds.worldbank.org.
10. Mair, L. (1972). An introduction to social anthropology (pp.1-368). New Delhi: Oxford University Press.
11. Beteille, A. (1986). The concept of tribe with special reference to India,European Journal of Sociology, Volume 27, 297-318

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

मीडिया के बदलते स्वरूप का वर्तमान समाज पर प्रभाव

प्रो. चंदा बैन
अधिष्ठाता कला संकाय, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश
ई-मेल: drchandabainl@gmail-com

सारांश

लोकतंत्र को बनाये रखने और बचाये रखने में स्वतंत्र पत्रकारिता की भूमिका अनिवार्य है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास पत्रकारिता का भी इतिहास है क्योंकि भारतीय पत्रकारिता का जन्म होते ही अंग्रेजी सरकार का दमन आरंभ होता है। भारत में जब पत्रकारिता प्रारंभ हुई तो इसकी प्राथमिकता समाज सुधार की थी। राजा राममोहन राय, देवेन्द्र नाथ ठाकुर आदि ने पत्रकारिता के माध्यम से ही समाज सुधार का काम किया। पत्रकारिता कभी मिशन हुआ करती थी आज वह व्यवसाय हो गई है। उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता खत्म हो रही है। वह पेशेवर हो गई है।

बीज-शब्द: *मीडिया, भाषा, पत्रकारिता, समाचार, भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण, बाजारवाद, आधुनिकता, संचार, लोकतन्त्र।*

प्रस्तावना

"सत्यं बूरयात प्रियं ब्रूयात न च ब्रूयात सत्यपियम्
प्रियं च नान्टतं ब्रूयात् एषा धर्म सनातनः"
(महाभारत)

अर्थात् सत्य बोलना, प्रिय बोलना, पर अप्रिय सत्य न बोलना यह धर्म है जो सनातन है। अप्रिय सत्य नहीं बोलना भी एक खास दृष्टि ही है। किसी भी भाषा के साथ किसी समूह या क्षेत्र विशेष की अस्मिता जुड़ी होती है। संस्कृति एक संयुक्त स्वरूप धारण करती है। उसका भूगोल, उसका संघर्ष और इतिहास, शौर्य और विद्रोह, उसकी भाषा में व्यक्त होता है। भाषा और संस्कृति आपस में इतने गुंफित हैं कि इनको अलग करना सहज नहीं होता भाषा का बेजा इस्तेमाल भाषा की प्रकृति को विकृत करता है। आज भाषा के इस्तेमाल से श्रोता और पाठक को ठगने का व्यापार चल रहा है। क्योंकि अब भाषा के व्यापारी होने लगे हैं और भाषा का व्यापार खूब चल रहा है। आज बाजारवाद और वैश्वीकरण की अवधारणा भाषाओं और बोलियों को समृद्ध करने की जगह उन्हें विकृत कर रही हैं। आज देशी-विदेशी मीडिया बाजार चलाने के लिए जिस भाषा को अपना रहे हैं वह विकृत हो रही है। जैसे हिन्दी प्रयोग में असावधानी के कारण हिंग्लिश बन रही है। आज भाषाएँ ऐसे विकृत हो रहीं हैं कि उसकी गंभीरता और गरिमा तो नष्ट हो ही रही है आज उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया है। मीडिया जहाँ भाषा का बेजा इस्तेमाल कर रही है उससे क्षेत्रीय भाषाओं पर संकट उत्पन्न हो गया है। आज छोटी-छोटी भाषाएँ समाप्ति की ओर ही हैं।

शोध विस्तार

आज मीडिया का जो स्वरूप विकसित हो रहा है यह पहले ऐसा नहीं था। वह समय ज्यादा पुराना नहीं हुआ जब पत्रकारिता को बहुत सम्मान से देखा जाता था। और खबरिया संस्थान चलाने वाले भी इन्हें कर्मचारी नहीं मानते थे परन्तु समय व्यतीत

होता गया और पत्रकार कर्मचारी हो गया और पत्रकारिता व्यवसाय बन गया। "छवि और सूचना उत्तर आधुनिकता के वे औजार हैं जो यथार्थ और कल्पना के भेद मिटाते हैं उस भेद को गड़बड़ाते हैं 'छलना' (साइमूलका) स्वयं एक उत्तर आधुनिक स्थिति है। जन-संचार के माध्यम के प्रपंच स्वयं एक उत्तर आधुनिक साहित्य है। यहाँ लेखकीयता, अद्वितीयता, मौलिकता, स्वायत्तता, भव्यता सब खत्म है। सब कुछ उपभोग्य है। साहित्य और बाजार के भेद यहाँ नहीं रहते हैं। साहित्य दैनिक अखबार है। साहित्य सूचना है। साहित्य रेडिमेड है। विज्ञापन है। उच्च कला यहाँ जन समाज की खपत भर बन जाती है।"[1] 'साहित्य समाज का दपर्ण है', के स्थान पर अब हम कह रहे हैं कि 'साहित्य सूचना हैं'। वर्तमान समय में मीडिया ही यह निश्चित करता है कि कब किसको प्रसिद्ध करना है, किसको बड़ा अथवा छोटा बनाना है, कब किसको साहित्यकार और कब किसको पाठक बनाना है।

"न्यूज-चैनलों की ताबड़तोड़ वृद्धि और अखबारों के बढ़ते प्रसार के बीच भारतीय मीडिया अपने सर्वाधिक सुखी दिनों से गुजर रहा है। चारों ओर आशा व आह्लाद का माहौल है। भूख से तड़पते ठिठुरते एक तिहाई हिन्दुस्तान के बीच ऐसे छदम माहौल निर्मित कर लिए जाते हैं। भारत का मध्यवर्ग अब नागरिक की जगह उपभोक्ता में तब्दील हो रहा है और उसी पर चैनलों-अखबारों की निगाह टिकी है। सरकारी आँकड़े बताते हैं कि भारत में रोजाना करीब ध्यान देने लायक 2000 अखबार छपते हैं और 20 से 30 न्यूज चेलन दिन रात सूचनाओं का कारोबार कर रहे हैं...मीडिया का ऐसा विराट बाजार पिछले पंद्रह सालों के भूमंडलीकरण और तकनीकी विकास की देन है।...लोग महसूस कर रहे हैं कि चैनलों को यूँ आवारा साँड़ की तरह छुट्टा नहीं छोड़ा जा सकता कि वे जो चाहे करते रहें और फिर दामन बचाकर निकल भी जायें।...जिस तरह लोकतंत्र में राजनीतिक दलों को पैसा पूँजीपतियों का और वोट गरीबों का चाहिए होता है उसी तरह मीडिया को विज्ञापन तो औद्योगिक घरानों से चाहिए लेकिन दर्शक उसे आम समाज के बीच से ही तलाशने पड़ते हैं।"[2] आज मीडिया का अपने इन्हीं बहुसंख्यक आबादी के हितों से गहरा अंतर्विरोध दिखाई देता है।

आज प्रजातंत्र के चौथे स्तंभ ने बाजार से ऐसे गठजोड़ कर लिया है कि महिला वस्तु में परिवर्तित हो गई हैं नये मुहावरे गढ़ लिए गए हैं, जैसे- 'जो दिखता है, वही बिकता है'। इसी रूप में मीडिया भी दिखाने और बेचने में पीछे नहीं है। फिर चाहे वह राखी सावंत का स्वयंवर हो या ऐश्वर्या अभिषेक का विवाह आदि दिखाने में आम आदमी के समय की कितनी बर्बादी की यह सभी जानते हैं। "मीडिया के छल की कोई सीमा नहीं है बीते दिनों संसद में जब महिला आरक्षण का मसला गरम हुआ तो मीडिया ने भी इसके प्रति सकारात्मक रूख दिखाया। मीडिया ने इस मसले पर ऐसा रवैया अपनाया जिससे लगे कि वह महिलाओं के कल्याण को लेकर सही मायने में चिंतित है।...मीडिया की यह भूमिका काफी हद तक सही कही जा सकती है। पर मीडिया में काम करने वाली महिलाओं की क्या स्थिति है, बातचीत इस मसले पर भी होनी चाहिए।"[3] मीडिया में काम करने वाली महिलाओं के साथ किस प्रकार का दोयम दर्जे का व्यवहार होता है। इस पर भी चर्चा होनी चाहिए। जो लोग मीडिया में निर्णय ले रहे है वे ऐसे परिवेश में पले बढ़े लोग है "जहाँ उन्होंने लड़कियों को दया का पात्र पाया है इसलिए जब वे निर्णय लेते हैं तो यह मानसिकता उस वक्त हावी हो जाती है और महिला पत्रकारों को बड़े काम नहीं दिय जाते इस वजह से इस क्षेत्र में उसका विकास बाधित होता है।"[4] जो लोग अब इस बात की वकालत करेंगे कि महिलाओं को समान अवसर है। तो जरा सोचिए प्राइम टाइम में कितनी महिलायें दिखाई देती हैं? मीडिया के शीर्ष पदों पर भी नहीं दिखती और यदि कोई महिला अपने बूते अपनी हैसियत बना भी ले तो उसे समझौतावादी कर दिया जाता है और उसकी योग्यता पर तो प्रश्नचिन्ह लगना स्वाभाविक है। मीडिया में महिला विरोधी पूरा सामाजिक वातावरण और सामाजिक बुराइयाँ विद्यमान हैं।

आज अखबार और पत्र-पत्रिकाएँ देश-विदेश की महिलाओं की अभद्र और असभ्य तस्वीर छापने में पीछे नहीं हैं। जो स्त्री विषयक पत्रिकाएँ हैं वे भी जोर उन्हीं विषयों पर देती हैं जिससे उनके उत्पादों की बिक्री हो। इन पत्रिकाओं में भी महिलाओं की गंभीर समस्यायें, उनके सामाजिक, राजनीतिक मसले कहीं नहीं दिखते हैं। "नारी केंद्रित चिंतन की निर्णायक

विशेषता भाषा में पुरूष वर्चस्ववाद के ढाँचे को तोड़ने की है। इस दी हुई भाषा के स्तरों एवं संरचना को तोड़े बिना स्त्री को वाणी नहीं मिल सकती। भाषा के भीतर स्त्री-केन्द्र की जगह खोजने के प्रयत्न में कई आधुनिक मूल्य और कई पद्धतियाँ नष्ट होती हैं। इनमें यथार्थवाद की कोटि पहली दुर्घटना बनती है। स्त्री-केन्द्र की व्याकुलता में यह अचानक पाया कि यथार्थवाद और उससे जुड़ी हुई भाषा आदि सब मूलतः पुल्लिंगवादी संरचनाएँ हैं। इसमें जो आत्म या नायक है उसमें से नायिका गायब ही है।"[5] वूमनस वर्ड में ऐनी लेक्लर्क ने जब कहा कि 'हमें भाषा की खोज करनी होगी अन्यथा हम नष्ट हो जायेंगी' तो वे दरअसल उस भाषा से बाहर एक ऐसी भाषा को खोजने की बात कह रहीं हैं जिसमें स्त्रित्व की रक्षा हो सके क्योंकि स्त्रियों की अभिव्यक्ति की भाषा पुरुषों के द्वारा नियंत्रित होती है।

आज सम्पूर्ण मीडिया अतिवादिता से भरा पड़ा है। पिछले सात-आठ वर्षों में टी.वी. सीरियलों में सास बहू-चरित्रों के अतिरेक ने जहाँ इसे सास-बहू के प्रतिशोध, घरेलू-झगड़े और विवाहेत्तर संबंधों का पर्याय बना दिया है। उच्च वर्ग के चरित्रों के बीच आये दिन बदलती जीवन शैली और आकर्षक आभूषण एवं पोषाकों ने इसे स्त्री के मध्य फैशन का संदर्भ कोश बनाकर छोड़ दिया हैं। ऐसे मे संदर्भ अपने आप ही अप्रासांगिक होते चले गए हैं। "इन सीरियलों से गुजरते हुए आप कभी भी स्त्री के वर्गीय चरित्र, घरेलू हिंसा, श्रम और बदलती सामाजिक संरचना के बीच उचित सवालों के संदर्भ में सोच नहीं सकते हैं। ऐसे सवाल जो महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए जवाब देने में सक्षम हो, निश्चित रूप से एक अलग परिदृश्य में गढ़ते समाज के कारण विलुप्त होते जा रहे हैं। सास-बहू सीरियलों ने स्त्री की छवि और उसकी उपस्थिति के दायरे को जितना सीमित किया है उसी अनुपात में विश्लेषण के दरवाजे भी छोटे होते चले गये।"[6] यह केवल स्त्री के साथ ही हुआ ऐसा कहना बेमानी होगा। आज राजनीतिक खबरें भी मीडिया से गायब रहती हैं बड़ी राजनीतिक घटनाओं को भी कवरेज नहीं दिया जाता है। इससे राजनीतिक पत्रकारिता को भी आघात तो पहुँचा ही है। "मीडिया ने बदलते मध्यवर्ग की रूचियों को ध्यान में रखते हुए एक काम यह किया है कि राजनीतिक खबरों में वह ऐसे तत्व ढूँढने लगा जो उबाऊ न हों और बिकाऊ भी हों। इस ट्रेंड के हिसाब से राजनीतिक खबरों को विचार शून्य बनाया गया और उसमें भी सनसनी को प्रमुखता दी गई। "स्टिंग ऑपरेशन के नाम पर अपराध और नग्नता के मिश्रण का सहारा लिया जाने लगा। हल्की-फुल्की मजेदार खबरों को प्राथमिकता दी जानी लगी...गंभीर राजनीतिक खबरों में मनोरंजन का तड़का लगाने का काम भी शुरू कर दिया गया। नतीजतन राजनीतिक खबरें दिनों दिन सतही होने लगीं। उनमें से गंभीरता गायब होने लगी ....सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की हालत ऐसे बेबस बूढ़े बुजुर्ग की तरह हो गई जो अपनी संतान को तरह-तरह से सलाह और चेतावनी तो देता रहता है मगर कुछ कर नहीं पाता है।"[7]

प्रिंट मीडिया हो या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया सब के सब सत्ता और पूँजी के बिना चल नहीं सकते हैं। इसीलिए तो राजनैतिक घटनाओं के नुमाइंदो के प्रति घुटने भी टेक देते हैं। आज खबरदाता समाज में रचनात्मक भूमिका छोड़कर पक्के कारोबारी अंदाज में सूचनाओं के व्यापार पर केंद्रित हो गए हैं। "यह खबर जोर-शोर से प्रसारित होगी कि फलाँ-गाँव में कुछ नक्सली मारे गये। लेकिन मारे गये लोग क्यों नक्सली बने या उन्हें जिंदा पकड़ने की वजह क्यों मार गिराया गया यह विश्लेषण करने की कतई चिंता नहीं की जायेगी और इसी वजह से कोई सामाजिक विवेक नहीं उपजेगा। भारत आज भी अपनी समस्याओं से लड़ता हुआ विकास शील मुल्क है लेकिन मीडिया की चमक-दमक उसे विकसित देशों की नकल या प्रकृति बनाने में जुटी है।"[8] नक्सलवाद, आतंकवाद और अपराध के अंतर को कोई अखबार उजागर नहीं करता। अखबारों में आज चयन के विकल्प सीमित हो गये हैं, इसके कई कारण हैं। इसी लिए आज मीडिया का कोई भी संस्कारण उठा लें "एक सी सामग्री सभी में मिलेगी, वही चटखोरदार अंतिम रंगीन पृष्ठ, ग्लोबल बाजार के किसी बासी प्रतीक चिन्ह के नीचे एक पन्ने पर कथित अर्थ जगत की खबरें। देश-विदेश के विरोधाभासी शब्द-युग्म के अंतर्गत जो कुछ सहजता से उपलब्ध हो उसी से काम चलाती सूचनायें।...खबरों के अतिरिक्त पठनीयता बढ़ाने और विविधता बनाये रखने के नाम पर निकाले जाने वाले परिशिष्टों के विषय भी सभी अखबारों में एक से ही हैं...हिन्दी अखबारों की यह प्रकृति पाठकों के समक्ष सामाजिक यथार्थ की विकृत तस्वीर प्रस्तुत कर सिर्फ उन्हें भ्रमित ही नहीं करती बल्कि ऐसा कर अखबार पाठक संख्या की प्रतिद्वंद्वता की दूरगामी दौड़ में अपनी सीमा रेखा भी बनाते चलते है।"[9]

यहाँ टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले रियलिटी शो की चर्चा न करना बेमानी होगा। इन शो में बहुत कुछ विदेशी शैली का और कुछेक देशी शैली का दिखाई देता है ये तमाम शो रियालिटी दिखने का दावा तो करते हैं। पर इनमें रियालिटी कुछ होती नहीं है, बिग बॉस आदि इसके उदाहरण हैं। दूसरी ओर जज की कुर्सी पर बैठे निर्णायकों के बीच का पक्षपात और कला का दंभ उनमें इतना बलवती होता हैं कि प्रतिभागी उनके सामने तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। ये भी अंतहीन गाथायें हैं। पिछले वर्ष जो कुछेक धारावाहिक आये वे वास्तव में कुछ सामाजिक समस्याओं और जमीनी हकीकत को अभिव्यक्त करते है। (जैसे अगले जनम मोहे बिटिया ही कीजौ, उतरन या बालिका वधू)।

मीडिया प्रजातंत्र का चौथा स्तंभ है वह जनता का, आम आदमी का प्रतिनिधि है लेकिन मीडिया ने अपनी अहम भूमिका नहीं निभाई है। इसके पीछे मूल कारण है व्यावसायिक वृत्ति है। इसके चलते पत्रकारों को देर रात तक काम करना पड़ता है यह भी न्याय संगत नहीं है। श्रमजीवी पत्रकार कानून है। न्यूनतम वेतन निर्धारण है। पत्रकार अब नौकरी पेशा कर्मचारी हैं और तब वह ऐसी कोई खबर नहीं छापेगा न दिखायेगा जिससे चैनल या अखबार के मालिक को आर्थिक या राजनीतिक नुकसान हो। यदि पत्रकार मालिक की सेवा शर्तों को नहीं मानता तो उसे आसानी से बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है। मीडिया मालिक के समस्त कार्य कलापों का जरिया पत्रकार को ही बनना पड़ता है। "इस समय मीडिया से जुड़े हमारे मित्रों की अहम जिम्मेदारी है कि वे पुलिस की बताई कहानी को अंतिम निष्कर्ष बनाकर न दिखायें...ऐसे नाजुक दौर में टी.आर.पी. की चिंता छोड़कर वस्तु स्थिति ही बतानी चाहिए और ऐसी रिपोर्टिंग से बचना चाहिए जो दिलों को तोड़ती हो, क्योंकि जब दिल टूटते हैं तो देश टूटता है। और निःसंदेह देश की कीमत हमारी नौकरी हमारे व्यवसाय, हमारे राजनैतिक हित और टी.आर.पी से बहुत ज्यादा है।"[10]

निष्कर्ष

भूमण्डलीकरण के इस युग में छोटी भाषाओं को बहुत बड़ा आघात पहुँच रहा है। वे मृत प्रायः होती जा रहीं हैं क्योंकि इंटरनेट का एक बाजार है। और वह एक ही भाषा का हिमायती भी है। परन्तु भाषा एक लीला भूमि है तो वह एक हथियार भी है। अतः मीडिया में स्त्री भाषा को बदलना होगा, स्त्री के वर्गीय चरित्र को समझना होगा। भारत सरकार की ओर से सामाजिक न्याय, पुनर्विवाह, स्त्री अधिकार, साक्षरता मिशन आदि को समाजोत्थान हेतु वरीयता देनी चाहिए। मीडिया को विभिन्न संदर्भो एवं घटनाओं को अतिरेक के साथ नहीं बल्कि स्वभाविकता से प्रसारित करना चाहिए ताकि समाज में सूचना के साथ विचार भी पहुँचे। इस अर्थ में मीडिया के बदलते स्वरूप से सामाजिक क्षेत्र में भी अनेक बदलाव परिलक्षित हो रहे हैं।

संदर्भ सूची

---

[1] सुधीश पचौरी - उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2000, पृ. 103

[2] सं. राजेन्द्र यादव - हंस पत्रिका, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज, नई दिल्ली, फरवरी 2007, पृ. 57

[3] सं. अपूर्व जोशी- पाखी, इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटिव सोसायटी उ.प्र. अंक-10 जुलाई 2009, पृ. 76

[4] वही पृ. 77

[5] सुधीश पचौरी - उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2000, पृ. 120

[6] सं. राजेन्द्र यादव - हंस पत्रिका, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज, नई दिल्ली, नबम्बर 2009, पृ. 131

[7] सं. राजेन्द्र यादव - हंस पत्रिका, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज नई दिल्ली, अगस्त 2008, पृ. 82, 83

[8] सं. राजेन्द्र यादव - हंस पत्रिका, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज नई दिल्ली, नवम्बर 07, पृ. 71

[9] सं. कुंबर पाल सिंह, नमिता सिंह- वर्तमान साहित्य, रामघाट रोड अलीगढ़ नवम्बर 07, पृ. 65

[10] सं. कुंबर पाल सिंह, नमिता सिंह- वर्तमान साहित्य, रामघाट रोड अलीगढ़ दिसम्बर 2008, पृ. 69

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका
SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

बुन्देलखण्ड की कला, संस्कृति एवं साहित्य : एक अनुशीलन

प्रो. नागेश दुबे[1]**, डॉ. मोहन लाल चढ़ार**[2]

[1] विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश

[2] एसोसियेट प्राफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, मध्यप्रदेश

सारांश

बुन्देलखण्ड को भारत का हृदयाचंल माना जाता है। बुन्देलखण्ड की अपनी विशिष्ठ कला संस्कृति है। भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में इस क्षेत्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस क्षेत्र में प्राचीनकाल से लेकर आज तक मानव जीवन के विविध पक्षों की बहुलता दिखाई देती है। इस क्षेत्र के सांस्कृतिक जीवन का प्रतिबिम्ब तत्कालीन कला, संस्कृति एवं साहित्य में देखने को मिलता हैं। बुन्देलखण्ड के लोक साहित्य के साथ कला एवं संस्कृति में धार्मिकता के अनेक आयाम भी हमें देखने को मिलते है। बुन्देलखण्ड चित्रकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला का केन्द्र रहा है। अनेक बुन्देली लोकगीत जनमानस को प्रभावित करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में बुन्देलखण्ड की कला, संस्कृति एवं साहित्य के दृष्टिकोण से बुन्देलखण्ड के समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

बीज शब्द: *साहित्य, लोक कला, धर्म, संस्कृति एवं समाज इत्यादि।*

प्रस्तावना

बुन्देलखण्ड अपने गौरवमय इतिहास और समृद्ध संस्कृति के लिए विश्व प्रसिद्ध है। भारतीय इतिहास में 'बुन्देलखण्ड' नाम से प्रसिद्ध इस भूखण्ड को प्राचीनकाल से ही अनेक नामों से पहचाना गया। इनमें चेदि, दशार्ण, डाहल एवं जैजाकभुक्ति मुख्य नाम हैं। बुन्देलखण्ड भारत के मध्यभाग में स्थित है बुन्देलखंड को भारत का हृदय स्थल भी कहा जाता है। वर्तमान बुन्देलखंड, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के विविध जिलों में विस्तारित है। बुन्देलखण्ड कहा जाने वाला यह भूभाग लगभग 80 हजार वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है, इसके अंतर्गत झांसी, जालौन, हमीरपुर, बांदा, ग्वालियर, भिण्ड, मुरैना, गुना, शिवपुरी, रायसेन, जबलपुर, सागर, दमोह, नरसिंहपुर, टीकमगढ़, दतिया, छतरपुर, पन्ना इत्यादि जिले सम्मिलित हैं। प्राचीन भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में बुन्देलखण्ड की सीमा के अंतर्गत आने वाले भूभाग का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रागैतिहासिक काल से आधुनिककाल तक इस क्षेत्र के विभिन्न भागों में भारतीय संस्कृति अनेक रूपों में परिलक्षित होती है। पाषाणकालीन शैलचित्रकला बुन्देलखण्ड के सागर, जबलपुर, छतरपुर, नरसिंहपुर, दमोह तथा पन्ना, क्षेत्र में मिलती है। प्राचीन काल से ही बुन्देलखण्ड क्षेत्र ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं लोक कलाओं की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में यमुना, नर्मदा, चंबल, तमसा, बेतवा, धसान जैसी महत्वपूर्ण नदियां बहती हैं। लोक साहित्य के अनुसार बुन्देलखण्ड की भौगोलिक स्थिति नदियों के आधार पर इस प्रकार मानी जाती है। **"इत जमुना उत नर्मदा इत चम्बल उत टौंस"** अर्थात यमुना और नर्मदा तथा चम्बल एवं टोंस का मध्यवर्ती भूभाग को बुन्देलखण्ड माना गया है। बुन्देली

कहावतों में भी बुन्देलखण्ड की भौगोलिंक संस्कृति की झलक देखने को मिलती है। "**भैस बंधी है ओरछा, पड़ा होशंगाबाद। लगवैया है सागरे, चपिया रेवा पार।।**" इन लोक कहावतों से स्पष्ट होता है कि बुन्देलखण्ड की एक व्यापक सीमा रेखा थी।[1]

शोध विस्तार

बुन्देलखण्ड में स्थित खजुराहो के चंदेलकालीन मंदिर एवं एरण के गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य कला विश्वप्रसिद्ध है। एरण नामक पुरास्थल के उत्खनन में ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति के पुरावशेष मिले हैं, जो हड़प्पा सभ्यता के समकालीन हैं। सागर इस पुरास्थल से मौर्य ,शुंग, सातवाहन, शक-क्षत्रप, नाग, गुप्तशासकों के भी अनेक पुरावशेष मिले हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में नौवी सदी ईस्वी से लेकर बारहवीं शती ईस्वी तक चन्देल राजवंश का शासन था।[2] चंदेलकालीन खजुराहो के मंदिरों का स्थापत्य इस क्षेत्र के समाज में वैज्ञानिक एवं विस्तृत सांस्कृतिक जीवन की सोच को प्रदर्शित करता है। खजुराहो की कला में अर्थ, धर्म काम, मोक्ष की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। खजुराहो की कला में मानव जीवन के विविध पक्षों का स्पष्ट स्वरुप देखने को मिलता है। चंन्देल काल में इस क्षेत्र को जिझौती या जैजाकभुक्ति जैसे नामों से भी जाना जाता रहा है। चौदहवीं शताब्दी ई. में बुन्देला वंश के आधिपत्य के फलस्वरूप इस भू-भाग का नाम बुन्देलखण्ड पड़ गया था।[3]

पूर्व मध्यकाल में इस क्षेत्र पर चंदेल राजाओं के अलावा कल्चुरी वंश, गौड़ राजवंश एवं दांगी शासकों का आधिपत्य रहा है। सल्तनत काल, मुगलकाल के सुल्तानों, मराठों व अंग्रेंजो ने भी इस क्षेत्र पर राज्य किया था। यहाँ के मंदिर, किले एवं अन्य स्थापत्य के उदाहरण, राजे-रजवाड़ों, रानियों, वीर पुरुषों के पराक्रम, त्याग, बलिदान और बुन्देलखण्ड की जनता के संघर्ष व पुरूषार्थ की कहानियों से हमारा ऐतिहासिक साहित्य भरा पड़ा है। बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य और वनाच्छादित विंध्यपर्वत श्रृंखलाएँ हर प्रकृति प्रेमी व्यक्ति को मोह लेती हैं। बुन्देलखण्ड के क्षेत्र की सांस्कृतिक विरासत प्राचीन काल से गौरवपूर्ण रही है। इसे प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया। इस क्षेत्र में विभिन्न शासकों द्वारा स्थापित करवाये गये दुर्गों के साथ मंदिरों, मूर्तियों ने भी इस क्षेत्र के अतीत को संरक्षित किया हैं । इनमें कला संस्कृति के साथ-साथ तत्कालीन समाज, धर्म, संस्कृति, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थिति की जानकारी मिलती है। इस क्षेत्र में मध्यकाल में बड़ी संख्या में दुर्ग बनवाये गये थे। इन दुर्गों में अजयगढ़, कालंजर, राहतगढ़ एवं गढ़कुंडार के दुर्ग कला एवं स्थापत्य कला की दृष्टि से उल्लेखनीय रहे हैं ।[4]

प्राचीन साहित्य के अनुसार प्रत्येक अंचल की संस्कृति की अपनी पृथक विशेषताएँ होती हैं, उसका एक अलग जीवन दर्शन एवं जीवन मूल्य होते हैं। जिनके कारण क्षेत्रीय संस्कृति अपना विशिष्ट महत्व रखती है। बुन्देली संस्कृति का निर्माण आल्हा और ईसुरी ग्रन्थ मिलकर करते हैं। एक बुन्देली कहावत में कहा गया है कि "**कृष्ण, मुहम्मद, देवनन्द, प्राणनाथ, छत्रसाल। इन पंचन को जो भजे, दुखहारे तत्काल।।**" इस प्रकार ईश्वर एवं शासकों का चिन्तन लोक संस्कृति में देखने को मिलता है। बुंदेली लोकजीवन का प्रतिबिम्ब उसका लोक साहित्य माना जाता है। बुन्देली लोक साहित्य बहुत विस्तृत और सांस्कृतिक तत्वों से परिपूर्ण हैं।[5]

बुन्देलखण्ड में शौर्य गाथाओं की एक लम्बी परम्परा दिखाई देती है। बारहवीं शताब्दी ईस्वी से लेकर बीसवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध तक लिखी गई शौर्य गाथाएँ आल्हा, रासों, कटक और राछरों के रूप में समाज में लोकप्रिय हैं। लोक जीवन में लोक गाथायें बड़े प्रेम और तन्मयता से गाई जाती हैं। यह कथापरक गीत होते हैं। इनमें कहानी गीत के माध्यम से आगे बढ़ती है। लोक गाथाओं में प्रायः लोकनायकों का शौर्य, लोक जीवन में चर्चित प्रेम-गाथायें, देवी-देवताओं के कथापरक प्रसंग तथा पौराणिक आख्यान वर्णित होते हैं। देवी-देवताओं से संबंधित गाथायें एवं गीत 'गोट' के रूप में मिलती हैं। इनमें कारसदेव की गोटें तथा हीरामन की गोटें समाज में अत्याधिक लोकप्रिय हैं। पौराणिक आख्यानों में मोरध्वज-कथा, भरथरी-कथा हरिश्चन्द्र, भगवान शंकर का विवाह तथा स्थानीय आख्यानों में हरदौल-कथा का प्रचलन समाज के प्रत्येक वर्ग में व्याप्त है।[6] इन लोक गाथाओं को लय, ध्वनि एवं गीत की के माध्यम से गाया जाता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के टीमर समुदाय के लोग आज भी तमूरा या इकतारा के साथ बुन्देली गीत संगीत गाते एवं नृत्य करते हैं। बुन्देली गाथाओं एवं फागों इत्यादि में गायन के साथ नृत्य की भी परम्परा मिलती है।[7] लोकगाथायें बुन्देलखण्ड के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास व साहित्य की

आधारभूमि मानी जाती हैं। बुन्देली गीत संगीत साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यमान निधि के रूप में समाज की विविध गतिविधियों की जानकारी के स्त्रोत माने जा सकते हैं। लोकगाथाओं की भाषा आम जन की क्षेत्रीय भाषा ही होती है। लोकभाषा के माध्यम से व्यक्त किये गये भाव इतने सहज और स्वाभाविक होते हैं।[8]

बुन्देलखण्ड की अधिकांश लोकगाथाएँ पद्यात्मक रूप में प्रचलित हैं। ये लोकध्वनियों में आबद्ध की गई हैं। इनमें बुन्देलखण्ड का लोकसंगीत सुरक्षित है। बुन्देलखण्ड के प्रत्येक ऋतु में मनाये जाने वाले त्यौहारों के अपने बुन्देली गीत संगीत समाज में प्रचलित है। ग्रामीण क्षेत्र के अशिक्षित लोगों को सैकड़ों की संख्या में बुन्देली भाषा में भजन, गीत एवं राछरे कंण्ठस्थ हैं। बुन्देली गीतों में 'मल्हार' राग का स्वर स्पष्ट रूप से झलकता है। इस क्षेत्र के अनेक लोक संगीत को लोकवाद्यों के साथ एक क्षेत्रीय विशिष्ट ध्वनि के साथ में गाया जाता हैं। बुन्देलखण्ड में ढोलक, मजीरा, तमूरा, नगड़िया, टपला इत्यादि अनेक लोक वाद्यों के साथ समाज के लोग समूह में मिलकर गाते हैं। बुन्देलखण्ड के पूर्वजों ने लोक साहित्य को लोक जीवन के लिए एक प्रमुख मनोरंजन का साधन बनाया था। इस क्षेत्र के लोग महत्वपूर्ण त्यौहारों एवं विशेष अवसरों पर सार्वजनिक चबूतरों, चौराहों, घरों एवं मंदिरों पर एकत्रित होकर लोकगीतों और लोकगाथाओं को समूह में गायन एवं वादन करके मनोरंजन करते हैं । बुन्देली गीतों को गातें समय एकत्रित सभी लोंगों के तन मन में विशेष उत्साह और उमंग का संचार देखने को मिलता है। बुन्देली गीतों के गायन एवं वादन के साथ लोक संगीत सुन कर सम्पूर्ण जन समुदाय हर्ष विभोर होकर प्रसन्नचित दिखाई देता है। बुन्देली लोकगाथायें अशिक्षित लोकगायकों की विशिष्ट रचनायें मानी जाती हैं।[9] इन रचनाओं में एक क्षेत्रीय भाव, कला एवं काव्य शिल्प दिखाई देता हैं।

लोक नृत्य राई, आल्हा काव्य, संत कवि प्राणनाथ तथा महाराजा छत्रसाल, महारानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती बुन्देलखण्ड क्षेत्र के आदर्श माने जाते है। इस क्षेत्र में लोक कवि ईसुरी की फागें आज भी लोक का कण्ठहार बनी हुई हैं। विवाह, पर्व, व्रतोत्सव तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनृत्य युगों युगों से अपनी पारम्परिक पहचान अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। कहावतें, मुहावरे, लोकाचार, लोकोत्सव, लोकविश्वास, भोजन, वस्त्राभूषण आदि में भी बुन्देली रंग देखने को मिलता है।[10] कर्मा, शैला, राई, सहरिया, बरेदी, करमा, सैरा आदि लोकनृत्य बुन्देली समाज की आन बान एवं शान हैं । बुन्देली भाषा की सामथ्र्य और शक्ति को साहित्य में बखूबी पहचाना जा सकता है। बुन्देली लोक संगीत और लोक चित्रकला का मनोहारी रूप लोगों के मन-मस्तिष्क में आज भी बसा हुआ है।[11]

बुन्देलखण्ड के साहित्यिक उपन्यास 'जूठी पातर' में शिक्षा को अपरिहार्य माना गया हैं। इस उपन्यास के अनुसार "बिखरे हुए राष्ट्र को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना है। यह हथियार के द्वारा संभव नहीं। शिक्षा और विवेक के द्वारा ही संभव हो सकता है। ईश्वर के प्रति विशेष आस्था और विश्वास इस क्षेत्र के लोगों में देखने को मिलती है। ऐतिहासिक उपन्यास 'बेलकली' में ईश्वर पर पूर्ण विश्वास इस प्रकार देखने को मिलता है। संसार में जो कुछ होता है, ईश्वर की इच्छा से होता है। मनुष्य तो उस सूत्रधार के हाथ की कठपुतली है।"

बुन्देली संस्कृति सर्वधर्म समन्वयवादी रही है। 'जूठी पातर' उपान्यास के अनुसार ईश्वर एक है, धर्म एक है, मनुष्य एक है, सृष्टि एक है। भेदभाव की सारी विभाजक रेखाएं असत्य हैं। उस ईश्वर का पार किसी ने नहीं पाया। वह अनादि है, अनन्त है।' बुन्देली साहित्य में उल्लेख मिलता है कि" मनुष्य, मनुष्य सभी एक हैं। सभी हाड़-मांस के बने हैं। समान सुविधाएँ मिलने पर सभी एक से हो सकते हैं। वर्तमान विषमता स्वार्थी और बेईमान समाज की बनाई हुई है।' बुन्देली स्त्री की धार्मिक आस्था व विश्वास का अटूट सम्बन्ध इस क्षेत्र की संस्कृति में देखने को मिलता है।[12]

प्रकृति से अन्तरंग और व्यापक रिश्ता बुन्देली समाज का है। बुन्देलखण्ड में पृथ्वी, आकाश, बादल, वनस्पति और पशु-पक्षी संबंधी नाना प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं। वृक्षों पर देवी-देवताओं का वास, बेलपत्र शिव का आहार, आंवले की पूजा से पापनाश, मृत्यु के समय तुलसीदल मुख में डालने से पापनाश आदि बातें आज भी लोकमानस में सुरक्षित हैं। नदियों के प्रति जनसामान्य का अटूट विश्वास है। नदियों को 'मैया' कहा जाता है। नर्मदा मैया, गंगा मैया, यमुना मैया आदि। 'काला भौंरा' में अगस्त ऋषि के सामने विन्ध्य पर्वत सिर झुका देता है। आध्यात्मिकता बुन्देलखण्ड की संस्कृति की अलग पहचान है। इस क्षेत्र में आध्यात्मिक संस्कृति आज भी पूर्ण रूप से जीवन्त है। बुन्देलखण्ड के लोगों में सेवा परायणता रग रग में बसी

हुईं है। मानव-मात्र में सहयोग एवं सद्भावना की जानकारी बुन्देली साहित्य में देखने को मिलती है। स्त्री के प्रति बुन्देली समाज में अपार सम्मान का भाव विद्यमान है। महारानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती आदि नारियाँ विश्व पटल पर बुन्देलखण्ड के गौरव का प्रतीक मानी जाती हैं। बुन्देली साहित्य में मिलता है कि"नारी पुरूष से कहीं अधिक स्पष्ट सोचती है। पुरूष नारी के कहने में चले तो कभी किसी संकट में न पड़े। नारी में श्रद्धा एवं भक्ति भावना होती है।

विंध्याचल पर्वत की श्रृंखलाओं की प्राकृतिक शोभा में डूबा बुन्देलखण्ड का भू-भाग अत्यंत मनोरम है। यहाँ के जन-जीवन में प्रकृति का अपूर्व योगदान है। प्रकृति के बीच उसकी सुषमा एवं सौन्दर्य से प्रभावित होकर बुन्देली जन ने चित्रकला के सहारे प्रकृति की महिमा का गायन किया और प्रकृति का सौन्दर्यांकन भी किया। विभिन्न अवसरों पर दीवारों या भीट पर चित्र बनाने की पुरानी परम्परा है, दीवाली में दीवार पर लाल गेरू के रंग से सुरातु आज भी चित्रित किये जाते हैं, विभिन्न प्रकार के चौक, मंगल कलश पर मांगलिक प्रतीक एवं हाथों पर मेंहदी के आलेखन लोककला की महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं। बुन्देलखण्ड की स्त्रियाँ इस दायित्व का निर्वहन पीढ़ियों से करती आ रही हैं। लोक रचनाओं में सुख-दुख, हर्ष-विषाद रीति-रिवाज, संस्कार-परम्पराओं, लोक साहित्य एवं लोककलाओं में स्त्रियों की भूमिका उल्लेखनीय है। बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक परंपराओं, रीति-रिवाजों, गीत-संगीत की समृद्धि में इस क्षेत्र की स्त्रियों का महत्वपूर्ण योगदान है । बुन्देलखण्ड में स्थित खजुराहो की मूर्तिकला में बनाई गयी मैथुन मूर्तियाँ आकर्षण का केन्द्र हैं। बुन्देली उपन्यास 'खजुराहो की अतिरूपा' में खजुराहो के मंदिरों, मूर्तिकला के निर्माण की जानकारी मिलती है। भैरवी यज्ञ, तंत्र साधना, नरबलि आदि का वर्णन अत्यंत रोचक है। मंदिर के बाहरी भाग और आंतरिक भाग में कामकला को दर्शाने वाली मूर्तियाँ कला और सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन मूर्तियों की सजीवता का चित्रण बुन्देली साहित्य में भी किया गया है।[13]

बुन्देली लोक साहित्य में कहावतों, मुहावरों, पहेलियों का विशिष्ट स्थान है। कहावतें एवं मुहावरे गागर में सागर भरने का कार्य करते हैं। मुहावरे अपना लक्षणा या व्यंजना मूलक अर्थ रखते हैं। बुन्देलखण्ड में कई पहेलियाँ भी प्रचलित हैं, जिनका उत्तर खोजने में मस्तिष्क को व्यायाम करना पड़ता है। बुन्देलखण्ड में कहावतों या अहानों में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इनका प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन होता है। कहावतों का भाव जानकर सुनने वाला अत्यधिक आनंदित होता है। जैसे बुन्देलखण्ड में दूध में पानी मिलाकर बेचने वालों पर व्यंग इस प्रकार है-**'पानी कौ धन पानी में, नाक कटी बेईमानी में'** कुछ बुन्देलखण्डी कहावते इस प्रकार है : **एक दिना के पावने, दूसरे दिना के पई। तीसरे दिना रए तौ बेसरम कई।।** अर्थात मेहमान को किसी के घर एक दिन से अधिक नहीं रुकना चाहिये। **पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़े दाम। दोऊ हाथ उलीचिये, यही स्यानों काम।। भाई, भतीजौ, भानजो, भुइयां उर भूपाल। इन पाचऊअन को छोड़के अंत करौ व्यापार।। प्रातः काल करैं अस्नाना। रोग दोष एकौ नही आना।। सूर्योदय, सूर्यास्त में भोजन कबहूँ न खाय। जो मनुष्य भोजन करे, वृद्धि नष्ट हुई जाय। प्रतिदिन भोजन का समय, निश्चित कर जो खाय। मिटै कब्जियत बल बड़ै, अरु जठराग्नि बढ़ाय।।** सौ वर्ष तक जीने (जीवेम् शरदः शतम) की कहावत को चरितार्थ यह पंक्तिया करती हैं : **कातिक दूध अगहन में आलू, पूस पान अरु माघ रतालू। फागुन शकर घी जो पाय। चैत आवला कच्चा खाय, बैशाखे जो खाय करेला, जेठे दाख आषाढ़े केला, सावन निशि में जब तब खाय, भादों व्यारु कबहूँ न पाय, कुआर कामना देव बचाये, तो शत वर्ष आयु हुई जाय।** भोजन न पचने का कारण निम्न कहावत में वर्णित है, **पियें न अधिक जल नित्य जो, बिना भूख जो खाय। अधिक जगे, सोवे अधिक शौच समय नहीं जाय।। भय ईष्या, अरु क्रोध में, तथा लाभ अरु शोक। कबहुँ न भोजन पच सके, जो लघु शंका रोक।।**[14] इन कहावतों को बुन्देलखण्ड के लोगों ने परम्परागत तरीकों सें किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

बुन्देली साहित्य का लेखन क्षेत्र, व्यक्ति, समाज, संस्कृति को ध्यान में रख कर किया गया है। इस क्षेत्र में लिखित आल्हाखण्ड, प्रबोधचन्द्रोदय, पृथ्वीराजरासो, काव्यमीमांसा में बुन्देली लोक संस्कृति को उल्लिखित किया गया है। जगनिक द्वारा लिखित आल्हाखण्ड या परमालरासो में आल्हा एवं ऊदल के अनेक युद्धों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में तत्कालीन समाज की स्थिति को भी चित्रित किया गया है। आल्हाखण्ड में बुन्देली समाज में किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व देवी देवताओं की उपासना की जानकारी इस प्रकार मिलती है। "सुमर भवानी दाहिने, सनमुख रहे गनेश। पाँच देव रक्षा करे, ब्रह्म, विष्णु, महेश।।[15]

निष्कर्ष

इस प्रकार सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड क्षेत्र समन्वयवादी सांस्कृतिक परम्परा का एक अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। भारत के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गौरव के विकास में बुन्देलखण्ड का वैशिष्ट्य योगदान है। यह क्षेत्र प्राचीन काल से विभिन्न कालों में मानव जीवन के लिए प्रेरणा स्त्रोत रहा है। देश के मध्य भाग में होने के कारण सदियों से उत्तर और दक्षिण के मध्य सांस्कृतिक गतिविधियों का संवाहक रहा है। बुन्देलखण्ड में विशालतम, सुदृढ़ दुर्ग कला स्थापत्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन दुर्गों की भौगोलिक स्थिति, सुरक्षा व जल आपूर्ति व्यवस्था उत्तम कोटि की थी। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में दुर्गों की उपस्थिति से स्पष्ट हो जाता है कि यह भू-भाग प्राचीनकाल से अनेक राजवंशों के संघर्ष का क्षेत्र रहा है। ये गौरवशाली दुर्ग, तत्कालीन शासकों एवं कलाकारों की स्थापत्य कला के प्रति गहरी सोच एवं व्यक्तिगत अभिरूचि को भी प्रदर्शित करते हैं। कालिंजर का दुर्ग, अजयगढ़ का किला, खजुराहों का महल, मनियागढ़ स्थापत्य कला के सुंदर उदाहरण माने जाते हैं । खजुराहो चंदेल कालीन स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। जीवंत कला-वैभव के प्रतीक खजुराहो मंदिरों, मूर्तियों की सूक्ष्म कल्पना स्थापत्य कला एवं मूर्ति विज्ञान के सिद्धांतों के विकास का परिचय देती है। बुन्देली साहित्य में उल्लेख मिलता है कि मूर्तियों में उकेरी गयी उल्लासमयी रूपगर्विता सुंदरियों की आकृतियां मन को बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। यौवन और सौन्दर्य से सर्वांग सुसज्जित, आभूषणों से अलंकृत, वेणी बांधे हुए सुन्दर अप्सराएं रंगमंच के लिए तैयार दिखाई देती है। मूर्तिकला में सुन्दर नारियों को श्रृंगार करते हुए, पत्र लिखते हुए हुए, पैर का कांटा निकालते हुए, निर्वस्त्र मैथुन-मुद्राओं में आनन्द का रसपान करते हुए दिखाया गया है। भारतीय इतिहास में बुन्देलखण्ड के राजवंशों, वीर पुरुषों के पराक्रम, त्याग, बलिदान और इस क्षेत्र की जनता के संघर्ष व पुरूषार्थ की कहानियों की जानकारी मिलती है। बुन्देली साहित्य में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी अजमेरी, नाथूराम माहौर, घासीराम व्यास, घनश्याम दास पाण्डेय, अम्बिका प्रसाद दिव्य का नाम उल्लेखनीय है। इस क्षेत्र के कलाकारों ने मूर्तिकला, चित्रकला एवं मंदिरों के माध्यम से तत्कालीन समाज के विविध कार्यकलापों को प्रस्तुत किया है। बुन्देलखण्ड के अनेक लोक गीतकारों, संगीतकारों ने बुन्देली संस्कृति को संरक्षित करने में उल्लेखनीय योगदान दिया है। बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक घटनाओं एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों पर केन्द्रित प्रमुख उपन्यास खजुराहों की अतिरूपा, जयदुर्ग का रंगमहल, काला भौंरा, सती का पत्थर, जूठी पातर, जोगीराजा, और प्रेम तपस्वी उल्लेखनीय है। इस प्रकार बुन्देलीं लोक संस्कृति, कला एवं साहित्य के माध्यम से इस क्षेत्र की भाषा, रहन-सहन, खान-पान, बोली, वेष- भूषा को विशेष रूप से सुरक्षित रखा गया है।

सन्दर्भ

1. मिश्रा, जयप्रकाश एवं दुबे राजीव: बुन्देलखण्ड का इतिहास एवं संस्कृति, शिवांश शिवाग्नी प्रकाशन हाउस,जबलपुर,1995,पृ.12
2. चढार, मोहन लालः एरण एक सांस्कृतिक धरोहर, आयु प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 26
3. मिश्रा, जयप्रकाश एवं दुबे राजीव: बुन्देलखण्ड का इतिहास एवं संस्कृति, पूर्वोक्त, 1995,पृ.122-23
4. चढार, मोहन लाल: बुन्देलखण्ड के दुर्ग: एक अनुशीलन, मेकल मीमांसा, अंक 13, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरंकटंक, मध्यप्रदेश, 2021, पृ. 157-173
5. दुबे, आरती: 'बुन्देली राछरे', ईसुरी, अंक-18, *डॉ.* हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 2010-11, पृ.123
6. श्रीवास्तव, बी.के.: बुन्देलखण्ड की संस्कृति, राधा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृ. 5
7. श्रीवास्तव, श्याम बिहारी: बुन्देलखण्ड की शौर्य गाथाएँ, बुन्देली इतिहास और संस्कृति, आदिवासी लोककला अकादमी, भोपाल, 2005, पृ. 292
8. दीक्षित, दुर्गा प्रसाद: गाथा साहित्य की परम्परा में बुन्देली लोक-साहित्य का अनुशीलन, शोध प्रबन्ध, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा, 1994, पृ.136
9. श्रीवास्तव, अतुल कुमार: बुन्देली में गाथात्मक गीत, ईसुरी, अंक-16, डॉ. हरीसिंहगौर विश्वविद्यालय, सागर, 2009, पृ.115

10. द्विवेदी, कैलाश बिहारी: बुन्देली गथाएँ: रूढ़ियाँ और उद्देश्य, बुन्देली इतिहास और संस्कृति, आदिवासी लोककला अकादमी, भोपाल, 2005, पृ. 263
11. गुप्त, अयोध्या प्रसाद: बुन्देलखण्ड का लोक जीवन, नमन प्रकाशन, उरई, 1997, पृ. 33
12. अम्बिका प्रसाद दिव्य: जूठी पातर, पृ, 190
13. अम्बिका प्रसाद दिव्य: खजुराहों की अतिरूपा, दिशा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ, 141
14. श्रीवास्तव, बी.के., बुन्देलखण्ड की संस्कृति, राधा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृ. 63
15. राजनीश, गोविन्द: लोक महाकाव्य आल्हा, इलाहाबाद, 1995, पृ. 9

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

पारंपरिक नाट्य परंपरा का स्वरूप एवं रंगमंचीय आलेख

डॉ. संजीब कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी), दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट एंड कॉमर्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

सारांश

रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है, और मंच इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। ऋग्वेद के कतिपय सूत्रों में यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। आधुनिक रंगमंच का वास्तविक विकास 19वीं शती के उत्तरार्ध से आरंभ हुआ और विन्यास तथा आकल्पन में प्रति वर्ष नए-नए सुधार होते रहे हैं; यहाँ तक कि 10 वर्ष पहले के थिएटर पुराने पड़ जाते रहे हैं, और 20 वर्ष पहले के अविकसित और अप्रचलित समझे जाने लगे हैं। नाटकों का विकास चाहे जिस प्रकार हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्य ग्रंथ और तत्संबंधी अनेक शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए और साहित्य में नाटक लिखने की परिपाटी संस्कृत आदि से होती हुई हिंदी को भी प्राप्त हुई। संस्कृत नाटक उत्कृष्ट कोटि के हैं और वे अधिकतर अभिनय करने के उद्देश्य से लिखे जाते थे। अभिनीत भी होते थे, बल्कि नाट्यकला प्राचीन भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग थी, ऐसा संस्कृत तथा पानी ग्रंथों के अन्वेषण से ज्ञात होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नागरिक जीवन के इस अंग पर राज्य को नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ गई थी। उसमें नाट्यगृह का एक प्राचीन वर्णन प्राप्त होता है। अग्नि पुराण, शिल्परत्न, काव्यमीमांसा तथा संगीतमार्तंड में भी राजप्रसाद के नाट्यमंडपों के विवरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार महाभारत में रंगशाला का उल्लेख है और हरिवंश पुराण तथा रामायण में नाटक खेले जाने का वर्णन है। इतना सब होते हुए भी यह निश्चित रूप से पता नहीं लगता कि वे नाटक किस प्रकार के नाट्यमंडपों में खेले जाते थे तथा उन मंडपों के क्या रूप थे। अभी तक की खोज के फलस्वरूप सीतावंगा गुफा को छोड़कर कोई ऐसा गृह नहीं मिला जिसे साधिकार नाट्यमंडप कहा जा सके।

बीज-शब्द: *रंगमंच, नाटक, नाट्यकला, नाट्यमंडप, कला, प्रतीकात्मक, संवाद, प्रदर्शन, अभिनय।*

प्रस्तावना

नाटक साहित्य के साथ एक कला विधा भी है, जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम रंगमंच है। दरअसल कुछ कलाएं जैसे कविता, संगीत या रूपांकर कलाओं की रचना एकांत में संभव है। बल्कि उसका आस्वादन एकांत में और अधिक अच्छा हो सकता है। परंतु रंगमंच की स्थिति ठीक उसके विपरीत है। रंगमंच में अभिनेता और प्रेक्षक का अटूट संबंध है। रंगमंच की कल्पना उसकी जीवंत उपस्थिति के बिना नहीं की जा सकती। रंगमंच के लिए मात्र दर्शक ही नहीं, निर्देशक, दृश्वसज्जाकार, वस्त्रसज्जाकार, अभिकल्पक अनेक पार्श्व कलाकारों की आवश्यकता होती है। रंगकला में अन्य कला का बहुत अधिक मिश्रण रहा है। नाटक की प्रस्तुति में भी अन्य कला का सहयोग जरूरी है। यहीं प्रश्न उठता है कि नाटक लेखन को कला माना जाए अथवा उसके मंचन

को कला माना जाए? नाटक के रचना के रूप में यह नाटककार का रचना कर्म है अतः वह उसके लिए एक कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप है। लेकिन नाटक के मंचन में उसका सर्जक किसे माना जाए। इस प्रश्न का यदि जवाब दिया जाए तो वह इतना सरल नहीं होगा।

रंगमंच हमेशा दूसरों का माध्यम रहा है। नाटक लिखता कोई और है निर्देशित कोई और करता है। किसी अन्य कला माध्यम में कोई दूसरा इतना अधिक नहीं छाया रहता है जितना कि नाटक में यही नाटक की सबसे बड़ी सृजनात्मक शक्ति है। कला का प्रयोजन यही है कि वह अपने अर्थों में जितनी खुली होगी, वह उतनी ही शाश्वत सार्वजनीन और सार्वकालिक होगी। शंभु मित्र के शब्दों में, इसे इस तरह से अभिव्यक्त कर सकते हैं: "जिस तरह पेड़ के पत्तों के रंग के साथ पेड़ के फूल के रंग का एक सामंजस्य होता है और तब जब हम मान लेते हैं कि उनके बीच मूल और गठन की दृष्टि से एक ही तत्व है तो फिर यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि नाट्याभिनय के क्षेत्र में नाटक भी नाट्यकला का एक अंशमात्र है, अपने आप में संपूर्ण सृष्टि नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे अभिनय भी एक अंश मात्र है, नाटक के साथ युक्त हुए बिना वह पूर्णता को प्राप्त नहीं करता।"[1] नाट्यकला में नाटककार का सृजन और अभिनेता- अभिनेत्रियों का सृजन एकाकार होकर हमें एक गहरी अनुभूति के बीच ले जाती है। उस सृजन में लिखित नाटक नाट्यकला का एक अंश मात्र होता है।

रंगमंच वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक, खेल आदि हों। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है, और मंच इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समुचे भवन को प्रेक्षागृह, रंगशाला, या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा नाम दिया जाता है।

शोध विस्तार

ऐसा समझा जाता है कि नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। ऋग्वेद के कतिपय सूत्रों में यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लोगों ने नाटक की रचना की और नाट्यकला का विकास हुआ। यथासमय भरतमुनि ने उसे शास्त्रीय रूप दिया। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों के विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है: "नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी है, अर्थात् दुःखरहित सत्ययुग बीत जाने पर त्रेतायुग के आरंभ में देवताओं ने स्रष्टा ब्रह्मा से मनोरंजन का कोई ऐसा साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना की जिससे देवता लोग अपना दुःख भूल सकें और आनंद प्राप्त कर सकें। फलत: उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर, नाटक का निर्माण किया।

“नाटकों का विकास चाहे जिस प्रकार हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्य ग्रंथ और तत्संबंधी अनेक शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए और साहित्य में नाटक लिखने की परिपाटी संस्कृत आदि से होती हुई हिंदी को भी प्राप्त हुई। संस्कृत नाटक उत्कृष्ट कोटि के हैं और वे अधिकतर अभिनय करने के उद्देश्य से लिखे जाते थे। अभिनीत भी होते थे, बल्कि नाट्यकला प्राचीन भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग थी, ऐसा संस्कृत तथा पानी ग्रंथों के अन्वेषण से ज्ञात होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नागरिक जीवन के इस अंग पर राज्य को नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ गई थी। उसमें नाट्यगृह का एक प्राचीन वर्णन प्राप्त होता है। अग्नि पुराण, शिल्परत्न, काव्यमीमांसा तथा संगीतमार्तंड में भी राजप्रसाद के नाट्यमंडपों के

[1] शंभु मित्र 'किसे कहते हैं नाट्यकला', पृष्ठ 10

विवरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार महाभारत में रंगशाला का उल्लेख है और हरिवंश पुराण तथा रामायण में नाटक खेले जाने का वर्णन है। इतना सब होते हुए भी यह निश्चित रूप से पता नहीं लगता कि वे नाटक किस प्रकार के नाट्यमंडपों में खेले जाते थे तथा उन मंडपों के क्या रूप थे। अभी तक की खोज के फलस्वरूप सीतावंगा गुफा को छोड़कर कोई ऐसा गृह नहीं मिला जिसे साधिकार नाट्यमंडप कहा जा सके।"[2] वस्तुतः रंगमंच जीवन को इतना अधिक विविधता में स्पर्श करता है कि भरतमुनि जैसे आदि नाट्याचार्य को यह लिखने के लिए विवश होना पड़ा-

"न तज्ज्ञांन न तच्छिल्पं
नासा विद्या न सा कला
नासौ योगो न तत्कर्म
नाट्ये अस्मिन यत्र दृश्यते"

- भरतमुनि 'नाट्यशास्त्र'

अर्थात ऐसा न ज्ञान है. न शिल्प है न विद्या है, न कला है, न योग है, न कर्म है जो इस नाट्य में न दिखाई देता हो। दरअसल, नाटक के लिए जिस माध्यम की परिकल्पना की गई, उसमें अभिव्यक्ति के सभी माध्यम सम्मिलित थे। भारतीय रंगमंच भारतीय जीवन के रीति-रिवाजों का मौलिक विकास है। प्रदर्शनकारी और रूपांकर कलाओं के विकास में सामाजिक संरचना की अंतनिर्भरता का एक व्यापक परिप्रेक्ष्य है। भारतीय समाज पर दो तरह की धाराओं वेदांत दार्शनिक परंपरा और ब्राह्मण कर्मकांड की परंपरा का प्रभाव पड़ा है। पहले का संबंध अमूर्तिकरण से है और दूसरे का प्रतीकात्मकता एवं इंद्रिय-बोध से है। रंगकला में इन दोनों विचारों का बराबर योगदान रहा है। रंगकला में संश्लिष्ट अर्थ को अमूर्तिकरण के संदर्भ में रखा जाता है और प्रदशनकारी कला होने के नाते उसमें इंद्रिय-बोध भी प्रखर होता है।

रंगमंच के विकास में मिथ और अनुष्ठान का बड़ा योगदान रहा है। अनुष्ठान और मिथ के साथ मनुष्य सामूहिक रूप से एकाकार होकर नाट्यकर्म में प्रवृत्त होता था।'[3] प्राचीन भारतीय समाज में भूमि की उर्वरता से संबंधित अनेक कर्मकांड होते थे। जिसमें नाटकीय कार्य-व्यापार की पहली बार आवृत्ति होती थी। मनुष्य के कथित शब्द और हरकत एक निश्चित रूप ग्रहण कर लेते थे। संगीत, नृत्य तथा नाटक कृषिगत कार्य- कलापों में घुलमिल गए और कृषक की दैनिक तथा वार्षिक गतिविधियों के अभिन्न अंग हो गए। अनुष्ठान में मनुष्यों को कुछ प्रदर्शन करने का अवसर मिलता था। इसी प्रदर्शन से ही रूपांकर कलाओं का विकास हुआ। धीरे-धीरे अनुष्ठानों का संबंध जीवन के विविध रूपों से हुआ और उसी के अनुरूप रंगकला और अन्य कला के संगठन में विभिन्नता का समावेश हुआ।

कलाओं के इस विकास में आपसी संवाद जागरूक रूप से होता था। रंगकला में तो लोक और शास्त्र के व्यापक संवाद का परिचय मिलता है। डॉ. कपिला वात्स्यायन के शब्दों में, "कलाओं का विकास ऐसी स्थानीय या क्षेत्रीय विशिष्टता के चौखटे में हुआ जो सामाजिक-आर्थिक स्तरबद्धता की सीमाओं में बंधी हुई नहीं थी। विभिन्न स्तरों के बीच के संवाद और आदान-प्रदान की स्थिति थी। और बहुधा ये परस्पर घुले-मिले भी दिखाई देते थे। दोनों ही पक्ष एक दूसरे को कुछ दे रहे थे और साथ ही एक-दूसरे से कुछ ले भी रहे थे। ऐसा नहीं है कि मात्र महान कला लोककला को प्रभावित कर रही थी। जनजातीय और ग्रामीण कलाओं ने भी इस महान को प्रभावित किया।"[4]

नाटक के इस मूल को पहचानने का एकमात्र उद्देश्य है कि नाटक के प्रारंभिक रूप को समझ सके। नाटक अपने प्रारंभिक रूप में भी प्रदर्शनकारी कला रहा है। वह अपने माध्यम रंगमंच से अनिवार्य रूप से संबद्ध रहा है। इंद्र प्रभृत देवताओं ने ब्रह्मा से याचना करते समय ऐसे क्रीडा-नायक की कामना की थी जिसमें श्रव्य और दृश्य दोनों शक्ति हो।

---

[2] https://bharatdiscovery.org/india/%E0%A4%B0%E0%A4%82%E0%A4%97%E0%A4%AE%E0%A4%82%E0%A4%9A

[3] But the Myths that have grown up around the rites. May be retained as a part of the groups tradition and in some instances stories based on myth may be acted out in a simple drama divorced from all ceremonial concerns When this occurs the first significant step has been taken toward theatre as a specialized activity and there after the authentic gradually comes to replace the utilitarian as religious aims of ritual. Oscar G Brockett "History of theatre', page 21

[4] वात्स्यायन, कपिला. 'पारंपरिक भारतीय रंगमंच अनंत धाराएँ', पृ. 6

'नाट्यशास्त्र' में दृश्यमयता को नाटक का मूल तत्व प्रारंभ से ही माना गया। वस्तुतः सारा नाट्यशास्त्र नाट्यकला के इसी आयाम को बहुत ही व्यापक संदर्भों में विवेचित करता है। भरत मुनि के अनुसार तो नाटक मुख्यतः लोक प्रमाण पर आधारित हैं। क्योंकि यह अपनी मूल प्रकृति में प्रदर्शनात्मक है। लोक जीवन को नाटक के केंद्र में रखने का मुख्य उद्देश्य नाटक के शब्दों को लोक की नई नई चेष्टाओं के साथ सम्मलित कर नए अर्थ का सृजन करना ही है। इस 'नाट्यशास्त्र' में जिस देवासुर संग्राम का वर्णन किया गया है उससे भी स्पष्ट होता है कि नाटक इस लोक के किसी एक पक्ष से संबद्ध नहीं होता, बल्कि सभी के जीवन की स्थितियों का तटस्थ निरीक्षण करता है। परंतु यह होता दृश्यकाव्य ही है इसीलिए कालिदास ने नाटक को चाक्षुष यज्ञ कहा है। 'मालविकाग्निमित्र' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "नाट्यकला की अभिव्यक्ति के पूरे आयाम उसके पूरे अंतर्बाह्य तथ्य तभी प्रकाशित होते हैं जब नाट्यवृत्ति की स्वमंचीय प्रस्तुति की जाती है। नाटक की अभिनेयता को लक्ष्य करके प्राचीन आचायो ने उसे रूपक की संज्ञा दी है।

इसीलिए 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के अभिनय पक्ष पर बहुत विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। अभिनय की समग्र दृष्टि के साथ 'नाट्यशास्त्र' में रंगमंच की सांगोपांग कल्पना भी की गई है। गोवर्धन पांचाल ने 'नाट्यवार्ता' के एक अंक में लिखा है, "जब हम भरत के 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित तीन प्रकार के नाट्यगृहों के विषय में पढ़ते हैं तो यह तस्वीर अचानक बदल जाती है। इन नाट्य गृहों के बारे में पढ़ते हुए हम अपने को एक दृढ धरातल पर खड़े पाते हैं। विशेषकर जब हम उनके विकृष्ट मध्य नाट्य गृह के बारे में पढ़ते हैं तो लगता है कि पहली बार हम सजीव हाड़-मांस के रंगमंच से मुखातिब हैं।"[5]

यही ऐसा शास्त्र है जिसमें रंगशाला के विवेचन में दृश्य स्थल पर विशेष बल दिया गया और इसका मुख्य आधार अभिनेता ही था यथार्थवादी रंगपरिकल्पना नहीं। इसका यह स्पष्ट मतलब है कि नाटक अभिनय के लिए भी रचा जाता था। नाट्यशास्त्र में अभिनय शब्द बड़े व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भरत ने कहा है कि अभिनय में ही नाट्य प्रतिष्ठित है। उनके इसी बताए गए अभिनय के चार प्रकार आंगिक, वाचिक सात्विक और आहार्य रंगमंच को खोजने का ही प्रयास है।

यही कारण है कि संस्कृत नाटक को जीवित रूप में प्रस्तुत करने के लिए एक पूरे रंग अनुष्ठान का वातावरण बनाया जाता था, जो मात्र लिखित शब्द को संवाद में बोल देने भर से नहीं हो सकता था। नाटक को रंगमंच में ढालने के लिए पूरा विधि 'नाट्यशास्त्र' प्रस्तुत करता है। पूर्वरंग से भरत वाक्य तक इनका वर्णन है। प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक हबीब तनवीर ने 'मुद्राराक्षस' की प्रस्तुति स्मारिका के निर्देशकीय टिप्पणी में लिखा है। "एक निर्देशक की तरह इस प्रांजलता और सरसता के इस अनुभव को जहाँ तक हो सके दृश्यात्मक ढंग से दर्शक तक पहुंचाना मेरा लक्ष्य था। इसीलिए ही पूर्वरंग और घटनाओं की नाट्य प्रस्तुति जो कृति में सिर्फ शब्दों में वर्णित है। इसलिए ही यवनिका भी, जिसका मैंने करीब पैंतीस साल पहले इसी नाटक के जी लाल कृत अंग्रेजी संस्करण को करते हुए उपयोग किया था। इसी तरह यहाँ आगमन और प्रस्थान की अनेक ऐसी रंगयुक्तियों का उपयोग है जिसको कारण अरस्तू निर्देशित तीनों अन्वितियाँ टूट जाती हैं केवल वह संगति बची रहती है, जिसे भरत ने रस नाम दिया था।"[6] यहीं भारतीय नाटक पाश्चात्य नाटक से अलग हो जाता है। वास्तव में, यह भेद जीवन दृष्टि का भेद है और इसलिए संस्कृत नाटक की संरचना पाश्चात्य नाटक से भिन्न है। नेमिचंद्र जैन के शब्दों में कह सकते हैं, "कुल मिलाकर संस्कृत रंगमंच पर प्रयोग या प्रदर्शन के अन्वेषण से एक ऐसी लचीली और कल्पनाशील रंगशैली का अता-पता मिलता है जो दिखावटी टीम-टाम पर नहीं अभिनेता द्वारा एक जादुई रच सकने की क्षमता और कुशलता पर बल देती है। अभिनेता की कला और शक्ति की ऐसी स्वीकृति संसार के किसी संस्कृति में नहीं मिलती। इसमें कोई संदेह नहीं, संस्कृत नाट्यपरंपरा मानवीय सृजनशीलता की उत्कृष्टतम उपलब्धियों को सूचित करती है।"[7] इस सच को समकालीन निर्देशकों की

---

[5] नाट्यवार्ता: अंक 41, फरवरी मई 1980, पृ. 36

[6] मुद्राराक्षस, निर्देशन हबीब तनवीर, भारत भवन, भोपाल, प्रस्तुति- स्मारिका, 1997

[7] जैन, नेमिचंद्र भारतीय नाट्य परंपरा, पृ. 13

प्रस्तुति की विभिन्न प्रासंगिक शैलियों की तलाश में देखा गया है। हबीब तनवीर, कवालम नारायण पणिक्कर, ब.व. कारंत आदि के प्रदर्शन इसके उदाहरण हैं। बहरहाल, ये प्रयास रंगमंच को समझने में सहायक बनते है।

वहीं दूसरी तरफ संस्कृत नाटक के पतन के बाद मध्य युग में जिन पारंपरिक नाट्य रूपों का विकास हुआ, ये मौखिक होने के बावजूद नाटक और रंगमंच के संबंधों की अनिवार्यता को भिन्न घरातल पर रखते हैं। इनमें संगीत प्रमुख भूमिका निभाता रहा है। जगदीश चंद्र माथुर के शब्दों में, "मेरा विचार है कि संगीतक ही वर्तमान आंचलिक नाट्य शैलियो का मूल है और यद्यपि उत्तर भारत में सांग और संगीत नामों से प्रचलित ग्रामीण नाटकों में ही संगीतक नाम की प्रतिध्वनि रह गई है, तथापि अन्य नामों से भी उन निहित नाट्य शैलियों यथा जात्रा, माच, रासलीला, भागवत तमाशा, कुट्टियाट्टम इत्यादि सभी संगीतक के परवर्ती स्वरूप हैं। केरल, मिथिला, नेपाल, आसाम, उड़ीसा, बृजमंडल एवं आंध्र, कर्नाटक में अनुकूल स्थानीय परिस्थिति और नेतृत्व के फलस्वरूप इस विधा का विकास हुआ और इन्हीं क्षेत्रों में इनका विस्तार सन्निकट भाषा क्षेत्रों में हुआ।"[8]

इसमें संगीत का प्रयोग नाटक में दर्शकों की रूचि को बनाए रखने के लिए होता था। इसलिए कथोपकथन गायन द्वारा ही होता था। इन नाट्य रूपों में कथा सूत्रों का संप्रेषण पर टिप्पणी का प्रमुख साधन था। इस तत्व ने संपूर्ण नाटक और रंगमंच की संपूर्ण संरचना ही बदल दी। दूसरी ओर इस युग में आकर रंगस्थल और विभिन्न नाट्य रूपों का एक अलग संबंध भी सामने आया। कुछ मंदिर के प्रांगण में अभिनीत किए जाने लगे जैसे कुटियाट्टम की प्रस्तुति ऊंचे मंच पर होने लगी जैसे यक्षगान, जात्रा और रासलीला तथा कुछ की प्रस्तुति समतल भूमि पर की जाती है जैसे छाऊ। कुछ नाट्य की प्रस्तुति रंग स्थल बदल-बदल कर की जाती है जैसे रामलीला।

इन नाट्य रूपों से नाटक जनजीवन के समीप ही नहीं आया बल्कि दर्शक और नाटक के संबंधों को भी रेखांकित किया। इसी नींव पर पारंपरिक मंच का निर्माण हुआ था। हमारे आंचलिक नाट्यों में स्मृति का महत्व बहुत अधिक है। वहां लिखित सामग्री संपूर्ण नहीं होती है। सांग, नौटंकी और जात्राएं तो अब लिखी जाती है परंतु उस समय नाटक मुख्यतः आशक्ति पर अवलंबित रहता था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी कंठो से ये गीत मुखर होते रहते थे। संवाद को यथावसर जोड़कर बना लिया जाता था। मौखिक पद्धति में यह आसानी रहती थी कि प्रेक्षकों की बदलती हुई रूचि के साथ गीत धुन और कथाओं का तालमेल होता था। इस रंगमंच का केंद्रीय तत्व प्रदर्शन ही था। इसलिए नाट्यालेख या नाटक की ओर लोगों का ध्यान कम ही जाता था।

लिखित नाटकों के अभाव में यह जरूरी हो गया कि रंगमंच के विभिन्न अवयवों के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए एक व्यक्ति हो, जो कथानक चुने, आवश्यक काव्य नृत्य, संगीत आदि तत्वों को निर्धारित करें। इस कार्य के लिए संस्कृत नाटक का सूत्रधार यहाँ भी उपस्थित होता है। परंतु पारंपरिक रंगमंच के सूत्रधार और संस्कृत रंगमंच के सूत्रधार में अंतर था। संस्कृत नाटक में सूत्रधार प्रारंभ में नाटक और नाटककार के बारे में सूचना देकर या कभी-कभी नाटक को शुरू कराकर चला जाता था। फिर मंच पर उसकी उपस्थिति अनिवार्य नहीं थी। परंतु पारंपरिक रंगमंचों पर सूत्रधार की उपस्थिति इतनी अधिक बहुमुखी और केंद्रीय बन गई। कई बार वही प्रमुख पात्र बनता गया। इस स्थिति में नाटक और रंगमंच के बीच नया बदलाव आया। विशेष रूप से नाटक की कथा के अग्रसर करने तथा दर्शक और कथा की गत्यात्मकता के बीच महत्वपूर्ण कढ़ी बनाने में उसने नाटक लिखने को प्रभावित किया। दूसरी ओर इन नाटय रूपों में पूर्वरंग की स्थिति से भी दर्शकों से जुड़ने, उनमें उन्मुक्तता पैदा करने, उन्हें जागरुक बनाने का कार्य नाटक और रंगमंच के बदलते संबंधों को रेखांकित करता है।

पारंपरिक रंगमंच में प्रदर्शन इतना अधिक महत्वपूर्ण होने लगा कि उनमें नाटक गौण होता गया। कथानक का कोई आधार लेकर उसकी प्रस्तुति ही उसका मुख्य उद्देश्य हों गया। संस्कृत नाटक ने रंगमंच और नाटक के संबंध में जो थोड़े बहुत बंधन बनाए थे. टूटते गए। यहाँ नाटक पढ़ने के लिए नहीं मंचित करने के लिए था। यही जीवन्त परंपरा भारतीय रंगमंच की विशेषता है। वास्तव में यह कोशिश अभिजातीय चेतना से अलग जीवन के साधारण वर्ग से जुड़ने की थी।

---

[8] जगदीश चंद्र माथुर परंपराशील नाट्य' पृ. 10

निष्कर्ष

इन विशेषताओं के आधार कहा जा सकता है कि वर्तमान रंगमंच को भी प्रभावित किया है। अपनी जड़ों की तलाश में रंगकर्मियों ने जो प्रयोग किए वे बड़े ही उत्साहवर्धक है। शेक्सपीयर के नाटक 'मैकबेथ' को जब ब.व.कारंत ने यक्षगान शैली में प्रस्तुत किया तो इससे शेक्सपीयर के नाटक का स्वाद ही बदल गया। इसी तरह के कई प्रयोग 'अंधायुग' के साथ भी किए गए हैं। वास्तव में परंपराशील नाट्यरूपों के साथ एक निरंतर संवाद रहना चाहिए। वास्तव में ये रूप हमारे अपने अनुभव से उपजे हैं, उसमें जब हम किसी नाटक का साक्षात्कार करेंगे तो वे हमारे अपनी आत्मीयता को ही रेखांकित करेंगे। परंपराशील नाट्य को कट्टरतावादियों से बचाना होगा। उसके प्रति हमें वैसी ही दृष्टि अपनानी होगी जैसी कि भारतेंदु ने अपने जमाने में अपनाई थी।

संदर्भ सूची

1. तनवीर, हबीब. (निर्देशन). (1997). मुद्राराक्षस, भारत भवन, भोपाल, प्रस्तुति- स्मारिका
2. जैन, नेमिचंद (स.) (1978). आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच, मैकमिलन इंडिया, दिल्ली
3. जैन, नेमिचंद. (1998). तीसरा पाठ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
4. जैन, नेमिचंद. (1993). दृश्य अदृश्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
5. माथुर, जगदीशचंद्र. (1969). परंपराशील नाट्य, बिहार हिंदी राष्ट्र भाषा परिषद, पटना
6. शंभू, मित्र. (1994) किसे कहते हैं नाट्यकला, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
7. वात्स्यायन, कपिला. (1995). पारंपरिक भारतीय रंगमंच अनंत धाराएं, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
8. Brockett, Oscar G. (1989). History of Theatre, University of Indiana
9. नाट्यवार्ता (1980). अंक 41, फरवरी-मई
10. https://bharatdiscovery.org/india

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका
SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास और कला जगत

स्मृति कुमारी
शोध छात्रा, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश
ई-मेल: smritisinghh621@gmail.com

सारांश

प्रस्तावित शोध-कार्य "देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास और कला जगत" में सत्यार्थी जी के उपन्यास के माध्यम से मुख्यतः उन प्रश्नों को उठाया गया है जो कला जगत के टूटते बिखरते मूल्यों के लिए जिम्मेदार है। साथ ही इन समस्याओं का समाधान और इनके उपयोगिता व संरक्षण पर भी बात किया गया है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक परिवेश किस तरह से कलाकारों की समस्या को प्रभावित करती है इसका भली- भांति चित्रण सत्यार्थी जी के उपन्यास के माध्यम से किया गया है और वर्तमान समय में भी क्या ये समस्याएं उसी रूप में है या आज का समाज और सत्ता वर्ग उन समस्याओं को और भी बढ़ा दिया है इन सारी बातों का जिक्र इस शोध कार्य में किया गया है। कला की महत्व को समझने और उसकी गरिमा को बनाए रखने के लिए ही ख़ास तौर पर इस विषय का चुनाव किया गया है।

बीज शब्द: *कला का महत्व, कलाकार का संघर्ष, समाज की विसंगतियां, प्राचीन संस्कार, परंपरा और मूल्य, कला की प्रासंगिकता*

प्रस्तावना

लोकयात्री के रूप में अपनी पहचान बनाने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी का जन्म 1908 ई० में पटियाला के भदौड़ ग्राम में हुआ था। उनका बचपन पंजाब के लोकगीतों की जिंदादिली में बीता और वही से लोकगीतों को सुनने की उनकी दिलचस्पी भी बढ़ती गई। परिणामस्वरूप यह हुआ कि वे न सिर्फ़ भारत बल्कि भूटान, नेपाल और श्रीलंका तक घूम-घूमकर विभिन्न भाषाओं के लगभग तीन लाख से ज्यादा लोकगीत इकट्ठा किए थे। किसी भी लेखक के साहित्यिक अवदान को समझने के लिए उनके परिवेश को समझना आवश्यक है क्योंकि लेखनी के निर्माण में वहां के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सत्यार्थी जी का संपूर्ण साहित्य-जगत इसका प्रमाण है। उनके उपन्यास, कहानी, निबंध, रेखाचित्र, आत्मकथा लगभग सारे ही विधा में लोकयात्रा और कला जगत का मार्मिक प्रभाव देखने को मिलता है। उनके द्वारा लिखा गया उपन्यास ' रथ के पहिए', 'कठपुतली', 'ब्रह्मपुत्र', 'दूधगाछ', 'कथा कहो उर्वशी' 'तेरी कसम सतलुज' तथा 'घोड़ा बादशाह' है। जिसमें तीन उपन्यास कठपुतली, दूधगाछ और कथा कहो उर्वशी कला जगत को समर्पित है।

भारतीय कला-जगत को विश्व में ख्याति प्राप्त है। यहां का लोक-संगीत, नृत्य, चित्रकारी, शिल्पकला, नाटक सबने विश्व स्तर पर अपना परचम लहराया है। एक समय था जब कला की महत्ता को समझा जाता था तथा कलाकार को उनकी मेहनत और लगन के लिए मान- सम्मान भी दिया जाता था परंतु आज यह स्थिति हो गया है कि जिन कलाओं, संस्कृतियों के कारण भारत का विश्व में एक अलग स्थान है उन्हीं कलाओं के प्रति हमारा समाज लापरवाह होता जा रहा है। आज हमारे मन में कला के प्रति कोई आसक्ति नहीं रही, हमारा हृदय इतना संवेदनशून्य हो गया है कि हमारे मन में किसी भी कला या

कलाकार के प्रति कोमल भावनाएं नहीं रहती। यहां तक कि कला के प्रति हमारा कोई नैतिक दृष्टिकोण ही नहीं बन पाता और न ही उन कलाकारों की समस्याओं पर ही कोई चर्चा की जाती है। आज कलाकार के जीवन में संघर्ष का आना आम बात है। चाहे वह कलाकार किसी भी क्षेत्र में क्यों न जुड़ा हो, कला-जगत के टूटते बिखरते मूल्यों ने कलाकार के जीवन में संघर्षों को जन्म दिया है और उन्हीं संघर्षों के गर्भ से समस्याओं का भी जन्म होता है, जिन्हें बताना देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यासों का एक विषय रहा है।

शोध विधि

इस शोध विषय को नया आयाम देने के लिए मैंने जिन शोध पद्धतियों का उपयोग किया है वह इस प्रकार है -

1. अध्ययन पद्धति
2. विश्लेषण पद्धति
3. वर्णनात्मक पद्धति

शोध-विस्तार

देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा 1953 ई० में 'रथ के पहिये' नामक पहला उपन्यास लिखा गया। यह उपन्यास हालांकि कला-जगत को तो समर्पित नहीं है लेकिन इस उपन्यास का चर्चा करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि यह उपन्यास सत्यार्थी जी के संपूर्ण लोक-यात्राओं की गूंज को समाहित करता है। एक-एक लोकगीत को इकट्ठा करने में सत्यार्थी जी के जुनून के आगे उनकी तकलीफे और दुख– दर्द टिक नहीं पाए। इसलिए तो वे अपने पीछे लोकगीतों का एक पूरा इतिहास छोड़ते हुए गए है, जिसकी दौलत कभी कम नहीं होगी। इन लोकगीतों के माध्यम से भारत की सभ्यता, संस्कृति, कला, रहन – सहन, रीती-रिवाज, ऋतुएं और त्योहार आज भी सुरक्षित हैं। लोकगीतों को इकट्ठा करने का उनका जुनून ही उनके भाषाओं के ज्ञान में भी काफी मदद की हैं। यही कारण है कि एक साथ उन्हें कई भाषाएं आती थी, जैसे -अंग्रेजी, हिंदी, उर्दू, पंजाबी, तमिल, मराठी, गुजराती इत्यादि। यह पहला उपन्यास सत्यार्थी जी के संपूर्ण जीवन के लगन और मेहनत में मिले अनुभव को बयां करती है और आगे कला जगत को समर्पित उपन्यास के लिए भूमिका भी तैयार करती है। इसउपन्यास का कथानायक आनंद में सत्यार्थी जी साफ़ तौर पर नज़र आते है जो अपने परिवार से विद्रोह करके आदिवासियों के ग्राम करंजिया जा पहुंचता है और वही एक नए जीवन की शुरुआत करता है। इस तरह मध्यप्रदेश के गोंड जातियों का यथार्थ चित्रण करता यह उपन्यास काफी सार्थक है।

अब हम देवेन्द्र सत्यार्थी के कठपुतली, दूधगाछ और कथा कहो उर्वशी नामक उपन्यास की चर्चा करेंगे जिसमे हमारे समाज की उन विसंगतियों को व्यक्त किया गया है जो सदैव ही कलाकारों की उपेक्षा करता आया है। सच्चा कलाकार कला की रूढ़ियों को तोड़कर उसे नया आयाम देता है लेकिन समाज इसकी उपेक्षा करता रहता है। समाज की इस उपेक्षा के ही कारण महान कलाकारों को सदैव गरीबी, जहालत और अपमान की जिंदगी जीनी पड़ती है लेकिन कलाकार लांछन, वंचना और कंगाली की भाड़ सहते हुए भी अपनी कला को नहीं छोड़ता। वह अपने जीवन का रस देकर कला की लता को सींचता है। यह समस्याएं स्त्री व पुरुष दोनों कलाकारों के जीवन में किसी भी रूप या परिस्थिति में आ सकती है। चाहे वह राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों से जुड़ी समस्याएं क्यों न हों। अपने उपन्यासों के माध्यम से सत्यार्थी जी ने बदलते हुए युग के अनुसार हमारी बदलती हुई सोच को भी रेखांकित किया है। 1954 ई० में लिखा गया कठपुतली उपन्यास नाटक और रंगमंच से जुड़े कलाकारों की समस्या का चित्रण करता है। इस उपन्यास का नायक 'सुनील' और नायिका 'दिपाली' है तथा लाहौर और दिल्ली दो शहर इसके केंद्रबिंदु में है। सुनील लाहौर का एक प्रसिद्ध नाटककार है

परन्तु सांप्रदायिक संघर्ष के कारण वह विस्थापित होकर दिल्ली आ जाता है। एक साथ हिंदू -मुस्लिम अत्याचार, भारत-विभाजन और स्वाधीनता प्राप्ति का संघर्ष उसके हृदय को मथित कर देता है। परंतु इस भयानक वातावरण में भी उसका कलात्मक जीवन अधिक सात्विक दिखाई देता है जिसे सफलतापूर्वक सत्यार्थी जी ने इस उपन्यास में दिखाया है।

सत्यार्थी जी होमर और लौंजाइनस की तरह ' कला, कला के लिए' के पक्षधर नहीं हैं बल्कि वह कला को जीवन के लिए अनिवार्य मानते थे, जिसको आधार बनाकर उन्होंने दूधगाछ और कथा कहो उर्वशी नामक उपन्यास लिखा। ' दूधगाछ' उपन्यास में संगीत और संगीतकार के जीवन संघर्ष का चित्रण किया गया है। यह उपन्यास कलाकारों की उस समस्या का वर्णन करता है जिसमे कलाकार दिन- रात एक करके एक अमूल्य कला को सीखता है, ग्रहण करता है परंतु बदले में उसे सामाजिक उपेक्षा मिलता है। यह उपन्यास आज भी उतना ही प्रासंगिक है क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर इतना हावी हो गया है कि लोग संगीत को मात्र विलासिता की वस्तु और पैसे का आधार मानते हैं। हमारे युग की विडम्बना यही है कि हम अपनी जड़ों अर्थात् अपने सांस्कृतिक परिवेश से कटकर अलग होते जा रहे हैं, आज हमारी नई पीढ़ी अपने परंपरागत पेशे को अपनाना नहीं चाहती। वह अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में मिले अनुभवों तथा संस्कारों से विपरीत दिशा में कार्य करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। जबकि रामविलास शर्मा भी अपने निबंध में बताते है कि "पिछली संस्कृति से नाता तोड़कर हवा में नई संस्कृति को जन्म नहीं दिया जा सकता"। हालांकि गांधी जी से प्रभावित होने के कारण लेखक की सोच आदर्शवादी और आशावादी रहा है इसलिए इस उपन्यास के अंत में वे मुख्य पात्र सोम द्वारा वापस गांव और कला की तरफ़ लौटते है जिस कला को आर्थिक तंगी ने छोड़कर बंबई जाने को मजबूर किया था। वास्तव में 'दूधगाछ' उपन्यास जुड़ाव, टूटन तथा बिखराव को मानव मन की नियति बताता है।

'कथा कहो उर्वशी' उपन्यास मूर्तिकारों की संवेदना और साधना को व्यक्त करती हैं और इसके केंद्र में उड़ीसा का एक गांव धौली है। यह उपन्यास भी दूधगाछ उपन्यास की तरह कला - जगत की निराशा को व्यक्त करती है। तकनीकी आविष्कार ने एक तरफ़ जिंदगी को सुलभ बनाया तो दूसरी तरफ़ हमारी सांस्कृतिक विरासत को ही खतरे में डाल दिया। जिसका परिणाम यह होता है कि अच्छे कला और कलाकार दोनों की पहचान उसकी अंतिम अवस्था में जाकर हमें समझ आती है। साहित्य का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है। प्रेमचंद, निराला जैसे अन्य कई लेखक है जिनकी योग्यता को पहचानने में समाज ने बहुत ही विलंब कर दिया और उसका खामियाजा इन लेखकों को भुगतना पड़ा। आख़िर कला जगत की इस दयनीय स्थिति के ज़िम्मेदार क्या सिर्फ समाज है? तो नहीं! इसका ज़िम्मेदार हमारा शासक वर्ग भी उतना ही है जितना समाज। धर्म, जाति, लिंग, वर्ग इत्यादि के फंदे ने हमेशा कला जगत की अवहेलना की है। परिवेशगत तत्कालिकता ने कुछ ऐसा आसन जमा लिया है कि समाज में कोई भी शास्त्रीय कला अपेक्षित स्थान प्राप्त नहीं कर पा रही हैं। भौतिक उन्नति के साथ ही वह हमारे जीवन का आधार नहीं रह पाती। यही कारण है कि आज कला का क्षेत्र कला प्रेमियों से रिक्त होता जा रहा है। इस उपन्यास का भी नायक ' चतर्मुख ' जीवन की आंतरिक परतों और असंगतियों से समझौता करते रहता है। वह एक तरफ प्राचीन संस्कारों, परंपराओ और मूल्यों का प्रतीक है तो वही दूसरी तरफ 'नीलकंठ' को ये मूल्य और संस्कार बोझ की तरह लगते है। वह अपनी वास्तविक सृजनात्मक शक्ति तथा मौलिकता को नया रूप देना चाहता है। ऐसा भी माना जाता है की यह उपन्यास देवेंद्र सत्यार्थी के अत्यंत निकट रहे मूर्तिकार रामकिंकर सत्यार्थी के दर्द को बयां करती है तथा वही इस उपन्यास के प्रेरणा स्त्रोत भी रहे हैं।

कला जगत की समस्या को पहले भी अन्य विधाओं के माध्यम से उठाया जा चुका था। जैसे - जगदीश चंद्र माथुर द्वारा 1951 में लिखा गया नाटक ' कोणार्क' नाट्यकला की सर्वांगपूर्ण सृष्टि को व्यक्त करता है। यह नाटक सिर्फ करुण कथा के रूप में न होकर, कलाकार के स्वाभिमान की रक्षा करता है। कलाकार का बदला सिर्फ जीवन सौंदर्य को ही चुनौती नहीं देता बल्कि अत्याचारों का विरोध व अत्याचारी को अतल अंधकार में भी डाल देता है। भीष्म साहनी द्वारा 1977 में लिखा गया 'हानूश' नाटक भी एक तरफ कलाकार की दुर्दमनीय स्थिति और निरीहता को रुपायित करता है तो दूसरी तरफ समाज और सत्ता के बीच पिस रहे कलाकार की मार्मिक स्थिति को भी व्यक्त करता है। आज के दौर में भी हम अपने चारो तरफ़ के

वातावरण में कला को ही तो पाते हैं। हमारी शाम रंगीन होती है तो कलाकारों के मेहनत की वजह से। कला सिर्फ़ हमारी जिंदगी में उल्लास, आनंद और हर्ष को प्रकट करने का माध्यम नहीं बनती बल्कि यह समाज में एक नई चेतना जागृत करती है और सकारात्मक बदलाव की ओर उन्मुख करती हैं। इन सबके बावजूद यदि हम उनकी महत्ता को नहीं समझ रहे है तो इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है। सत्यार्थी जी अपने उपन्यास के माध्यम से यही समझाने का प्रयत्न करते है कि कोई भी कलाकार अपनी वास्तविक खुशी यानी अपनी कला को छोड़कर जाना नहीं चाहता लेकिन एक साथ कई मजबूरी उसे पलायन की ओर धकेलती है और वर्तमान में भी कमोवेश यही स्थिति है इसलिए हमसब को मिलकर इस समस्या से छुटकारा पाना होगा।

निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि देवेन्द्र सत्यार्थी जी के उपन्यास के माध्यम से मुख्यतः इस समस्या को उभारा गया है कि कलाकार अपनी कला और परंपरा को आधार मानकर अपना जीवन व्यतीत करें या जो लोग कला को मात्र विलास की वस्तु और पैसे का आधार मानते है उनके हाथ का खिलौना बनकर कला को रसातल में जाने दे? इनके उपन्यास साहित्य जगत को कई नए आयाम ही नहीं देती बल्कि कला जगत के कुछ ऐसे प्रश्नों को भी उधेड़ती है जिसे हमारा समाज प्रायः अनदेखा करता आया है या उससे नावाकिफ है। प्रश्नों को उधेड़ना और साथ ही उन प्रश्नों के हल तक पहुंचना इनके उपन्यास का मुख्य विषय रहा है। यहां कला का संबंध मूर्तिकला, नाट्यकला, नृत्यकला, संगीतकला व इनके कलाकारों द्वारा भोगी गई समस्या व संघर्ष से संबंधित है।

आधार ग्रंथ:

1. देवेन्द्र सत्यार्थी, *रथ के पहिए*, प्रवीण प्रकाशन, संस्करण 1993
2. देवेन्द्र सत्यार्थी, *कठपुतली*, आकाशदीप पब्लिकेशंस, संस्करण 1997
3. देवेन्द्र सत्यार्थी, *ब्रह्मपुत्र*, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1958
4. देवेन्द्र सत्यार्थी, *दूधगाछ*, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1998
5. देवेन्द्र सत्यार्थी, *कथा कहो उर्वशी*, प्रवीण प्रकाशन, संस्करण 1991
6. देवेन्द्र सत्यार्थी, *तेरी कसम सतलुज*, प्रवीण प्रकाशन, संस्करण 1989
7. देवेन्द्र सत्यार्थी, *घोड़ा बादशाह*, आत्माराम एण्ड संस, संस्करण 1991

सहायक ग्रंथ:

1. प्रकाश मनु, *देवेन्द्र सत्यार्थी चुनी हुई रचनाएं*, लोक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989
2. प्रकाश मनु, *देवेन्द्र सत्यार्थी प्रतिनिधि रचनाएं*, प्रभात प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002
3. श्रीमती शान्ति सत्यार्थी, *मेरे साक्षात्कार देवेन्द्र सत्यार्थी*, किताबघर प्रकाशन, संस्करण 2009
4. प्रकाश मनु, *देवेन्द्र सत्यार्थी एक भव्य लोकयात्री*, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, संस्करण 2004
5. शशिप्रभा तिवारी, *भारतीय कला दर्शन*, प्रभात प्रकाशन, संस्करण 2018
6. विनोद भारद्वाज, *कला का रास्ता*, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2011
7. शिवकुमार गुप्ता, *भारतीय कला का सुबोध इतिहास*, संस्कृति प्रकाशन, संस्करण 2004

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका
SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

प्रेमचंद का समकालीन नारी उत्थान

डॉ. देवपाल सिंह बैरवा
पी-एच.डी. हिंदी, मोनार्ड विश्वविद्यालय, मेरठ, उत्तर प्रदेश

सारांश

समकालीन नारी उत्थान की दिशा में जिन समाज सेवियों एवं साहित्यकारों ने सर्वाधिक प्रयास किए हैं, उनमें मुंशी प्रेमचंद का नाम बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है। आधुनिक कालीन भारत में समाज सुधार आंदोलन चल रहे थे। समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा था। इसी शृंखला में सबसे अधिक ध्यान महिलाओं की दयनीय अवस्था को सुधारने पर दिया गया। अपनी लेखनी के माध्यम से प्रेमचंद ने भी महिलाओं को मुख्य धारा में शामिल करने हेतु प्रयास किया। उनके साहित्य में स्त्री की वास्तविक दशा का वर्णन मिलता है। बाल-विवाह, विधवा, दहेज, वेश्यावृत्ति, स्त्री-शिक्षा इत्यादि स्त्री से संबंधित विषयों को केंद्र में रख कर प्रेमचंद ने साहित्य लेखन किया है। उन्होंने साहित्य और समाज को महिलाओं की यथार्थ अवस्था से जोड़ने का कार्य किया है।

बीज-शब्द: *मुंशी प्रेमचंद, स्त्री-विमर्श, स्त्री चिंतन, समकालीन, कथा साहित्य, नारी, उत्थान, समाज सुधार, आधुनिक हिन्दी साहित्य।*

प्रस्तावना

हिन्दी में आधुनिक काल के प्रादुर्भाव के साथ ही नवजागरण की चेतना का विस्तार हुआ। यह चेतना सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक स्तर पर परिवर्तन की वाहक बनी। शिक्षा, संचार और यातायात के संसाधनों में वृद्धि होने के साथ ही, देश को समाज की आंतरिक समस्याओं पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ। विकास के नए मार्ग पर प्रशस्त भारतीय समाज को स्त्री की दशा का पुनरावलोकन करने की आवश्यकता महसूस हुई। इसलिए बाल विवाह, सती प्रथा, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, विधवा विवाह इत्यादि स्त्री जीवन से जुड़े विषयों पर विचार किया जाने लगा। बीसवीं सदी में लगातार स्त्री सुधार की दिशा में प्रयास किए गए। मुंशी प्रेमचंद ने हिन्दी साहित्य लेखन बीसवीं सदी के साथ ही आरंभ किया था। उनके सम्पूर्ण साहित्य में हाशिये के समाज की चेतना दृष्टिगत होती है। उन्होंने दलित, मजदूर, श्रमिक और स्त्री वर्ग के यथार्थ को उकेर कर उनकी अवस्था में सुधार हेतु विचार करने का मार्ग प्रदान किया है।

शोध विस्तार

कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद के लेखन का सफर करीब तीस वर्षों तक चलता रहा। इन्होंने अपने साहित्य में स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं को उठाया है। अपने समकालीन समाज में जिन-जिन समस्याओं को प्रेमचंद ने देखा, उन सभी को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। शम्भूनाथ के अनुसार “प्राय: सभी उपन्यासों और कहानियों में प्रेमचंद ने सामाजिक कुप्रथाओं पर चोट की और नारी मुक्ति की आवाज उठायी। वह सिर्फ सुधार में विश्वास नहीं करते बल्कि सामाजिक क्रांति भी चाहते हैं।”[1] प्रेमचंद ने सामाजिक परिदृश्य के परिवर्तन पर बल दिया है। उनके उपन्यासों की विकास यात्रा का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि आरंभ से ही उनके लेखन के केंद्र में स्त्री सुधार की भावना रही है। ‘देवस्थान रहस्य’ औपन्यासिक कृति में प्रेमचंद

ने धार्मिक आडंबर और उसके सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त दुष्प्रभाव को रेखांकित किया है। इनके 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' उपन्यास में विधवा जीवन की विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है। 'सेवासदन' उपन्यास में स्त्री की मजबूरी का लाभ उठाने वाले समाज और उसके परिणाम का वृहद चित्रण किया गया है। 'वरदान' उपन्यास में समाज में प्रेम की अस्वीकृति और युवा पीढ़ी की घुटन को दिखाते हुए स्त्री जीवन की विडम्बना को दिखाया गया है। प्रेमचंद ने दहेज एवं अनमेल विवाह की समस्या का चित्रण 'निर्मला' उपन्यास में किया है। गबन उपन्यास में स्त्री जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। साथ ही मध्यवर्गीय जीवन की असंगति का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। प्रेमाश्रम, रंगभूमि और गोदान इन तीनों उपन्यासों में किसान, मजदूर, श्रमिक, स्त्री और सर्वहारा वर्गों की समस्याओं को उठाया गया है। इसके साथ ही बदलते दौर के साथ महिलाओं की स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

प्रेमचंद के साहित्य में स्त्री सुधार की ध्वनि देश में व्याप्त विभिन्न समस्याओं के परस्पर ही उभरकर आती है। उनके कथा साहित्य में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्त्री की पृथक-पृथक भूमिकाओं का चित्रण किया गया है। समाज और परिवार के द्वारा जिन महिलाओं को उपेक्षित कर दिया जाता है अथवा जो महिलाएँ समाज के द्वारा प्रताड़ित होकर गलत मार्ग पर चली जाती हैं, प्रेमचंद ऐसी महिलाओं के प्रति अधिक सजग और चिंतित दिखाई देते हैं। 'सेवासदन' उपन्यास में समाज के द्वारा प्रताड़ित और तिरस्कृत स्त्री के जीवन की व्यथा वर्णित है। समाज का तथा-कथित सभ्य समाज महिलाओं को वेश्यावृत्ति के रास्ते पर धकेल कर उनका जीवन बर्बाद कर देता है। प्रेमचंद ऐसी महिलाओं के उत्थान की बात करते हैं। प्रेमचंद युगीन समाज में बालिका को जन्म से ही बोझ मान लिया जाता था। पुत्री के जन्म के संबंध में समाज की स्थिति को 'नैराश्य लीला' कहानी में दिखाया गया है- "आदमी अपनी स्त्री से इसलिए नाराज रहते हैं कि उसके लड़कियां क्यों होती हैं? लड़के क्यों नहीं होते?"[2] समाज की स्थिति इतनी ज्यादा खराब थी कि लड़कियों के जन्म पर शोक और लड़के के जन्म पर उत्सव मनाया जाता था। ऐसे परिवेश में प्रेमचंद स्त्री के हित में समाज को जागृत करने का कार्य करते हैं।

प्रेमचंद ने समाज में विधवा स्त्री के जीवन के यथार्थ को दर्शाते हुए उसको सामाजिक और पारिवारिक क्षेत्र में मान-सम्मान दिलाने की वकालत की है। अपने प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' से लेकर 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'कायाकल्प', 'वरदान', 'निर्मला' इत्यादि से होते हुए, उनके अंतिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' तक विधवा स्त्री के जीवन की विडम्बना दिखाई देती है। 'गबन' उपन्यास की स्त्री पात्र रतन, दुखी होकर कहती है- "न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था कि पति के मरते ही हिन्दू नारी इस प्रकार स्वत्व वंचित हो जाती है।"[3] जिस दौर में प्रेमचंद लिख रहे थे उस समय एक स्त्री के द्वारा इस तरह का विचार रखना ही, स्वयं में बड़ी क्रांति का परिचायक है। प्रेमचंद ऐसे महिला चरित्र को गढ़कर सभी महिलाओं को सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध जागृत होने के लिए प्रेरित करते हैं। विधवा जीवन की सामाजिक चुनौतियों को इनके सभी उपन्यासों में देखा जा सकता है। प्रेमचंद के उपन्यासों में स्त्री पात्र क्रमश: पूर्णा (प्रतिज्ञा), विरंजन (वरदान), गायत्री (प्रेमाश्रम), बगेश्वरी (कायाकल्प), कल्याणी (निर्मला), रुक्मणी (निर्मला), रतन (गबन), रेणुका देवी (कर्मभूमि) इत्यादि हैं। ये सभी स्त्रियाँ प्रेमचंद की नारी उत्थानवादी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं।

'वरदान' उपन्यास में प्रेमचंद ने स्त्री पात्र विरंजन के विधवा जीवन की पीड़ा को व्यक्त किया है। जिसमें वे लिखते हैं- "सौभाग्यवती स्त्री के लिए उसका पति संसार की सबसे प्यारी वस्तु होती है। वह उसी के लिए जीती है और उसी के लिए मरती है। उसका हँसना बोलना उसी को प्रसन्न करने के लिए और उसका बनाव शृंगार उसी को लुभाने के लिए होता है। उसका सुहाग उसका जीवन है और सुहाग उठ जाना उसके जीवन का अंत है।"[4] पुरुषवादी मानसिकता स्त्री के जीवन को केवल पुरुष से जोड़कर देखती है। जिसके अनुसार स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है, जो जीवन वह जीती है उस पर भी उसका अधिकार नहीं रहता है। प्रेमचंद पुरुष की इस सत्ता को तोड़ते हैं और स्त्री अधिकारों को स्वतंत्र रूप से महत्व देते हैं।

'गबन' उपन्यास में रतन के माध्यम से प्रेमचंद सम्पत्ति में स्त्री के अधिकार का समर्थन करते हैं। उपन्यास में क्रोधित होकर रतन कहती है- "अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर में माँ-बहने न थीं? तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आई? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती- बहनों! किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो।"[5] समाज महिलाओं को आत्मनिर्भर नहीं देख सकता है। भारतीय समाज में महिलाओं को पिता का घर और पति का घर ही बताया जाता है, ये नहीं बताया जाता कि उनका अपना घर कौन सा है। इसलिए प्रेमचंद संपत्ति में स्त्री के अधिकार का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। प्रेमचंद 'गबन' उपन्यास में यह भी स्पष्ट करते हैं कि समाज के साथ-साथ परिवार भी महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित रखता है। परिवार को स्त्री विरोधी मानते हुए रतन कहती है- "परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं काटों की शय्या है; तुम्हारा पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जाने वाला जन्तु है।"[6]

प्रेमचंद ने स्त्री के लिए पुरुष अनुगमन का मार्ग अनुचित बताया है। क्योंकि स्त्री जब अपना स्वत्व समाप्त करके पुरुष के पीछे चलती है तो उस अवस्था में स्त्री का निजत्व समाप्त हो जाता है और स्त्री केवल दया की पात्र बनकर रह जाती है। जबकि प्रेमचंद ने स्त्री को केवल दया और करुणा का पात्र नहीं माना है। वे तो स्त्री को पुरुष का साथी मानते हैं। 'गबन' उपन्यास में रमाकांत के भ्रष्ट चरित्र को जग्गो और जालपा ही सुधारने का काम करती हैं- "जग्गो ने चूड़ियाँ उठाकर जमीन पर पटक दीं और आंखे निकालकर बोली- जहाँ इतना पाप समा सकता है, वहाँ चार चूड़ियों की जगह नहीं है! भगवान की दया से बहुत चूड़ियाँ पहन चुकी और अब भी सेर-दो सेर सोना तो पड़ा होगा; लेकिन जो खाया, पहना, अपनी मिहनत की कमाई से, किसी का गला नहीं दबाया, पाप की गठरी सिर पर नहीं लादी, नियत नहीं बिगाड़ी।"[7] प्रेमचंद मानते हैं कि पुरुष के हृदय में मानवता के बीज रोपने का कार्य महिला ही करती है।

प्रेमचंद ने महिलाओं को शिक्षित और आत्मनिर्भर दिखाकर समाज को स्त्री सुधार के लिए प्रेरित किया है। उनके समय-समाज में महिलाएँ सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन में सहयोग करने लगी थीं। 'कर्मभूमि' उपन्यास में महिलाएँ सविनय अवज्ञा आंदोलन में पुरुषों के साथ बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेती हैं। लेकिन पितृसत्तात्म समाज उनको अपने समक्ष कमतर आँकता है। हालांकि 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' उपन्यास में कुछ स्त्री पात्रों को पुरुष पात्रों की भाँति मजबूत अवस्था में दर्शाया गया है। प्रेमचंद ने 'गोदान' उपन्यास में नारी के कई स्वरूपों को आकार प्रदान किया है। इनमें धनिया को अदम्य साहसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो आर्थिक और शैक्षणिक स्तर पर कमजोर होने के बाद भी पुरुष सत्ता को चुनौती देती हुई दिखाई देती है। समाज में व्याप्त आडंबर और मानवता विरोधी मानसिकताओं को तोड़ने का काम झुनिया, सिलिया इत्यादि स्त्री पात्र करते हैं। गोदान की सबसे ज्यादा सशक्त स्त्री-पात्र मालती है। मालती आधुनिक युग की नारी है। वास्तव में मालती एक प्रतिकात्मक चरित्र है जो बदलते सामाजिक परिवेश में स्त्री की चेतना और जागृति का प्रतिनिधित्व करती है। वह पुरुषों की भांति जंगल में शिकार खेलने जा सकती है। पुरुषों के वाद-विवाद एवं बहस इत्यादि में हिस्सा ले सकती है। मालती पाश्चात्य विचारधारा का समर्थन भी करती है परंतु लेखक स्वयं जिस भारतीय समाज, परंपरा और संस्कृति में विश्वास रखता है, मालती भी उसी समाज की पक्षधर है। मालती पाश्चात्य समाज एवं विचारधारा की समर्थक अवश्य है किन्तु वह भी आदर्श प्रेम की परिणति में जीवन की सार्थकता स्वीकार करती है और इस संदर्भ में मेहता से कहती है- "अपनी छोटी सी गृहस्थी बनाकर अपनी आत्माओं को छोटे से पिंजरे में बंद करके अपने सुख-दुख को अपने ही तक रखकर क्या हम असीम के निकट तक पहुँच सकते हैं? जिस दिन मन मोह में आसक्त हुआ, हम बंधन में पड़े, उस दिन हमारी मानवता का क्षेत्र सिकुड़ जायेगा। तुम्हारे जैसे विचारवान प्रतिभाशील मनुष्य की आत्मा को मैं इस कारागार में बंदी नहीं करना चाहती।"[8] इस विचार के साथ ही प्रेमचंद समकलीन दौर की नारी को दिशा प्रदान करने का कार्य करते हैं।

प्रेमचंद के साहित्य में स्त्री विमर्श की भूमिका तैयार होती है। 'वीमेन्स लीग' का प्रकरण 'गोदान' उपन्यास में दर्शाते हुए प्रेमचंद महिलाओं के राजनीतिक दायरे को विस्तारित करते हैं। 'गोदान' में मिस्टर मेहता अपने भाषण में कहते हैं- "देवियों जब मैं इस तरह आपको संबोधित करता हूँ तो आपको कोई बात खटकती नहीं! आप इस सम्मान को अपना अधिकार समझती हैं, लेकिन आपने किसी महिला को पुरुष के प्रति 'देवता' का व्यवहार करते सुना? उसे आप देवता कहें, तो वह समझेगा, आप उसे बना रही हैं। आपके पास दान देने के लिए दया है, श्रद्धा है, त्याग है। पुरुष के पास दान देने के लिए क्या है? वह देवता नहीं लेवता है।"[9] भारतीय समाज ने आदिकाल से ही स्त्री को पूजनीय घोषित किया है। किन्तु कभी उसको एकसमान अधिकार और अस्मिता की स्वतंत्रता प्रदान नहीं की है। इसी व्यवस्था पर प्रेमचंद प्रश्न-चिन्ह लगाते हैं और लिखते हैं- "अब वह दिन लद गए हैं, जब देवियाँ इन चकमों में आ जाती थीं। उनके अधिकार हड़पते जाओ और कहते जाओ, आप देवी हैं, लक्ष्मी हैं, माता हैं।"[10]

प्रेमचंद की कहानियों में दहेज प्रथा का विरोध किया गया है। अनमेल विवाह का मूल कारण दहेज को मानते हुए 'नैराश्य लीला' कहानी में प्रेमचंद लिखते हैं- "दहेज के अभाव में कोई बूढ़े के गले कन्या को मढ़कर अपना गला छुड़ाता है।"[11] प्रेमचंद अपने युग की मानसिकता को दिखाते हैं। उनकी 'कुसुम' कहानी में भी स्त्री जीवन की व्यथा का वर्णन हुआ है- "जिसके घर में दो-तीन कन्याएँ आ गई हैं, बस समझ लो उसका सर्वनाश हो गया। माता-पिता के लिए अब इसके सिवाय और कोई त्राण नहीं कि वे अपना पेट काटें, तन काटें, धोखाधड़ी से रुपए लावें।"[12]

निष्कर्ष

प्रेमचंद ने अपने साहित्य के माध्यम से नारी जीवन के उत्थान का प्रयत्न किया है। वास्तव में उनका साहित्य स्त्री मुक्ति का दस्तावेज़ है। स्त्री जीवन की विडंबनाओं, समस्याओं और उनके अधिकारों के संदर्भ में प्रेमचंद ने जीवनपर्यंत आवाज उठाई है। प्रत्येक वर्ग और जाति समुदाय की स्त्री प्रेमचंद के साहित्य में स्थान पाती है। साथ ही अपने अधिकार और न्याय की बात कहती हुई भी दिखाई देती है। समाज में उपेक्षिणीय और त्याज्य समझी जाने वाली विधवा और वेश्या जीवन को प्रेमचंद ने मुख्य धारा के साहित्य में स्थान दिया। जबकि उस दौर में परिवार और समाज ऐसी महिलाओं को घरों में भी स्थान नहीं देते थे। वास्तविक अर्थों में स्त्री-विमर्श की नींव का निर्माण प्रेमचंद के द्वारा ही होता है। उनके स्त्री पात्र मुखर होकर अपने हक की बात करते हैं। इस रूप में प्रेमचंद अपने समकालीन सामाजिक आंदोलन में नारी के उत्थान को बल प्रदान करते हैं।

संदर्भ

[1] शंभूनाथ, प्रेमचंद का पुनर्मूल्यांकन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,1988 , पृष्ठ-26

[2] मुंशी प्रेमचंद, नारी जीवन कि कहानियाँ, प्रेम प्रकाशन मंदिर, दिल्ली,1987 , पृष्ठ-51

[3] मुंशी प्रेमचन्द, गबन, भारतीय साहित्य संग्रह, दिल्ली,2014 , पृष्ठ -337

[4] मुंशी प्रेमचन्द, वरदान, डायमंड पॉकेट बुक्स, दिल्ली,2011 , पृष्ठ -115

[5] मुंशी प्रेमचन्द, गबन, भारतीय साहित्य संग्रह, दिल्ली,2014 , पृष्ठ -193

[6] वही, पृष्ठ -194

[7] वही, पृष्ठ -200

[8] मुंशी प्रेमचन्द, गोदान, राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली,2007 , पृष्ठ-297

[9] वही, पृष्ठ -122

[10] वही, पृष्ठ -122

[11] मुंशी प्रेमचंद, नारी जीवन कि कहानियाँ, प्रेम प्रकाशन मंदिर, दिल्ली,1987 , पृष्ठ-32

[12] अमृतराय, प्रेमचंद-भाग) विविध प्रसंग :2(, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद,1962 , पृष्ठ -265

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

मीराबाई के काव्य में प्रतिरोध के स्वर

डॉ. सुजाता मिश्र
अतिथि शिक्षक, हिंदी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

सारांश

भक्तिकालीन काव्य में संत साहित्य में जब मीराबाई का नाम आता है तो उन्हें श्रीकृष्ण की परम उपासिका के रूप में, प्रेम दीवानी के रूप में या प्रेमा भक्ति के प्रतीक के रूप में व्याख्यायित कर उनके समस्त काव्य सृजन को और जीवन संघर्ष को सगुण भक्ति काव्य धारा से भीतर समेट दिया जाता है और बडी ही संजीदगी के साथ मीराबाई के काव्य में निहित सामंतवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह,सामाजिक कुप्रथाओं का खंडन और स्त्री चेतना के प्रगतिशील स्वर को दबा दिया जाता है। इस आलेख के माध्यम से "परमेश्वर को पति माननें वाली मीराबाई" के काव्य में निहित सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक पक्षों पर विचार करेंगे।

बीज-शब्द: *भक्तिकाल, सगुण भक्ति, संत रविदास, कृष्ण भक्ति, मेवाड, तुलसीदास, जन चेतना, नारीत्त्व।*

प्रस्तावना

भारतीय साहित्यैतिहास में 'मीराबाई' मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की एक मूल्यवान कडी के रूप में हमारे सामनें उपस्थित होती हैं।यह चिंतनीय है कि कबीर के काव्य में सामाजिक विद्रोह देखने वाले साहित्यकारों और आलोचकों ने भी मीराबाई के काव्य में केवल कृष्ण प्रेम की ही प्रधानता चिन्हित की। जब्कि मीराबाई की कृष्ण भक्ति का मूलाधार ही सामंती व्यवस्था और सामाजिक रूढियों के प्रति विद्रोह पर खडा है।मध्यकालीन भारत में स्त्री जीवन वैसे भी अनेक कुप्रथाओं,बंदिशों और यातनाओं में जकडा हुआ था, उस पर मीराबाई जो कि राजस्थान की राजवंशी वधु थी , उसपर विधवा भी!राजसी रीति-रिवाजों में जहां कुल की मर्यादा हेतु कुलवधुओं का सती हो जाना, जौहर कर लेना गौरव का, महिमांडन का विषय रहा हो वहां मीराबाई द्वारा कृष्ण को ही अपना पति मान लेना क्या महज उनकी "दीवानगी" कहा जायेगा? मीराबाई के समस्त रचनाकर्म को, उनके कठिन जीवन को केवल किसी अज्ञात-अलौकिक सत्ता से जुडने की ललक कह देना क्या अन्याय नहीं है?

शोध विस्तार

मीराबाई काव्य और जीवन का समग्रता से अध्ययन लकरने पर हम उनके काव्य में कृष्ण भक्ति को आधार बना चली उनकी प्रगतिशील चेतना का उदय देखते हैं। या दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि तत्कालीन परिस्थितियों में मीराबाई ने पुरुषसत्ता और राजसत्ता के विरुद्ध अपना प्रतिकार दर्ज करने के लिये कृष्ण भक्ति का आधार लिया। राजसी षणयंत्रों से घिरी मीराबाई का विद्रोह रचनात्मक था, अहिंसक था, उसमें कुटिलता या राजनीति नहीं थी, बल्कि अपने लिये जीने, अपने अस्तित्त्व को बचाए रखने की ललक थी। उन्हें किसी राज घराने की विधवा बहु कहलाने से बेहतर श्री कृष्ण की "अचल सुहागन" कहलाना ज्यादा रुचता है।मीराबाई के काव्य में निहित सामाजिक प्रतिरोध के स्वर को हम इस प्रकार समझ सकते हैं:-

1. **सामाजिक रुढियों का प्रतिकार –**

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मीरा की भूमिका का जब हम मूल्यांकन करते हैं तो मीरा की पहली टकराहट सामाजिक रूढ़ियों से होती है। पति भोजराज जी के निधन के पश्चात स्वयं भी सती प्रथा का वैयक्तकि स्तर पर विरोध करती हैं, और श्रीकृष्ण को ही अपना पति घोषित कर समाज द्वारा निर्मित कथित विधवा धर्म का खंडन करती हैं। इससे पूरा राजपरिवार उनके खिलाफ हो जाता है। वो कहती हैं –

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरौ न कोई,
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।"

2. **पुरुष सत्ता का प्रतिकार –**

मीराबाई ने स्त्री जीवन पर पुरुष सत्ता के अप्रत्यक्ष नियंत्रण को कभी स्वीकार नहीं किया, मध्यकाल में तो यह नियंत्रण अत्यधिक कठोर था। उस युग के सामन्ती परिवेश तथा पुरुष प्रधान समाज में **'पति को परमेश्वर'** मानने वाली हिन्दू स्त्री का **'परमेश्वर को पति'** मानने का अधिकार प्राप्त करना आसान नहीं था। यह एक प्रकार से राजनीतिक सामन्तवाद तथा धार्मिक परम्पराओं के विरुद्ध मीरा के रूप में युग की नारी का मूक विद्रोह था। मीराबाई इस मूक विद्रोह के कारण 'कुलनाशी' कहलायी और परिजनों द्वारा उनकी हत्या करवाने का भी अनेक बार प्रयास हुआ, कभी विष का प्याला देकर तो कभी फूलों से भरी टोकरी में जहरीला सांप छुपाकर। परन्तु मीराबाई ने नारीत्व को जीवित रखा और सिद्ध कर दिया कि पुरूष की सत्ता के बिना भी नारी का अस्तित्व है।मीरा ने साफ-साफ कह दिया कि अब वह किसी की नहीं सुनेंगी, किसी के रोके नहीं रुकेंगी –

"तेरो कोई न रोकणहार, मगन हुई मीरा चली,
लाज-सरम कुल की मर्यादा सिर सौं दूर करी।"

3. **राजसी वैभव का त्याग कर साधु-संतों की संगति –**

यूं तो कृष्ण भक्ति की ललक मीराबाई में बचपन से ही थी, किंतु पति की मृत्यु के पश्चात उनके जीवन में विषाद का अध्याय प्रारम्भ हो गया था, जिसकी वजह थी सामंती वर्ग की झूठी शान –शौकत,भोग- विलास पूर्ण जीवन शैली और अहंकार। राजकुल द्वारा जबरन थोपी जानें वाली मर्यादाओं और आडम्बरों से तंग आकर मीराबाई ने राजसी जीवन का त्याग ही कर दिया और एक आम तपस्वी की तरह साधु – संतों की टोली के साथ भजन, कीर्तन और तीर्थाटन के मार्ग पर चल पडी। हम कह सकते हैं कि मीराबाई ने सामन्ती वैभव का प्रतिकार कर आम इंसान की जीवनशैली का अनुसरण किया।यह केवल उनकी कृष्ण भक्ति ही नहीं बल्कि विद्रोह भी था, जिसमें एक राज घराने में पली –बढी स्त्री समस्त सुख, सुविधाओं और सुरक्षाओं को ठुकरा संत मार्ग को चुन लेती हैं। यह मार्ग उनके लिये कोई आसान नहीं था, परिवर द्वारा और समकालीन धार्मिक मठाधीशों द्वारा भी मीरा को विरोध सहना पडा किंतु मीराबाई साधु- संतों के बीच बैठती रही और अपने उच्च विचार भजनों के माध्यम से लोक जीवन तक पहुंचाती रही। वो जहां भी जाती उन्हें अत्यधिक मान – सम्मान मिलता, वो गर्व से कहती हैं :-

"छांड़ि दई कुल की कानि, कहा करिहै कोई,
संतन संग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई।"

4. **भक्तिमार्ग के लैंगिक विभाजन का विरोध –**

भक्तिकाल में ऐसे अनेक संत कवि हुए जिन्होनें स्त्री को माया कहकर उसे बाधा माना। कबीरदास, तुलसीदास जैसे महान संतों ने भी स्त्री के सान्निध्य का विरोध किया। ऐसे दौर में मीराबाई की भक्तिमार्ग कितना कठिन रहा होगा यह समझा जा सकता है, लेकिन यहां भी मीराबाई ने अपना तार्किक विरोध सदैव दर्ज करवाया। आत्मज्ञान हेतु गौतम बुद्ध का गृह त्याग सहज माना जाता है लेकिन मीराबाई जब गृहत्याग करती है तो उनका विरोध होता है। ज़ाहिर है कि भक्तिमार्ग पर भी पुरुष सत्ता का वर्चस्व था। ऐसे में वृंदावन यात्रा के दौरान कभी स्त्री का मुख न देखने की प्रतिज्ञा करने वाले जीव स्वामी के आश्रम पहुंच उनसे शास्त्रार्थ करने वाली मीराबाई के साहस और तेज की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। कहते हैं कि जब मीरा द्वारिका से वृंदावन आयी। इनके साथ साधु-संतों की टोली थी जिसमें कई स्त्रियां भी थी। शाम हो जाने के कारण सभी ने आगे जाना उचित नहीं समझा। मीरा ने कहा पास ही जीव गोस्वामी जी का आश्रम है,सभी लोग जीव गोस्वामी के आश्रम पहुंचे। लेकिन गोस्वामी जी के सेवक ने कहा कि गोस्वामी जी किसी स्त्री से नहीं मिलते हैं।सेवक की बात सुनकर मीराबाई मुस्कुरायी और एक पत्र लिखकर सेवक को दिया। सेवक उस पत्र को लेकर गोस्वमी जी के पास पहुंचा। पत्र पढ़ते ही गोस्वामी जी दौड़कर बाहर आये और मीराबाई से क्षमा मांगने लगे। दरअसल उस पत्र में मीराबाई जीव गोस्वामी से यह प्रश्न पूछ कर उनका अज्ञानजन्य पौरुषी दर्प हर लेती है कि-

"एक पुरुष सकल जग माही, दूजी नार सोहाई..!"

अर्थात - 'मैंने तो सुना है कि वृंदावन में सिर्फ एक पुरूष हैं श्री कृष्ण बाकि सभी तो गोपी भाव से श्री कृष्ण की भक्ति करते हैं। मुझे नहीं पता है कि कृष्ण के अलावा कोई दूसरा पुरूष भी वृंदावन में मौजूद है।'

निष्कर्ष

मीराबाई का जीवन और सृजन पारम्परिक सामाजिक संरचना और रुढिवादी सामंती मूल्यों के विरुद्ध एक साहसिक,रचनात्मक तथा अहिंसक प्रतिकार है। एक गहरी चोट है पुरुषसत्ता पर और एक मजबूत दस्तक है स्त्री अस्तित्त्व की। मीराबाई के काव्य को केवल कृष्ण भक्ति या अलौकिक सत्ता तक समेट देना षणयंत्र है क्योंकि मीराबाई का तो सम्पूर्ण जीवन ही एक विद्रोहिणी का जीवन है। मध्यकालीन सामंती परिवेश में जहां स्त्रियों को घर की चौखट तक लांघनें की छूट न थी, जहां स्त्री को बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक पुरुष सत्ता के नियंत्रण में रखने की परम्परा थी, जहां पति की मृत्यु के उपरांत स्त्रियां या तो सती हो जाती थी, या बलात हर ली जाती थी वहां मीराबाई ने धार्मिक – आध्यात्मिक क्षेत्र में स्त्रीयों के लिए मार्ग खोला।आज भी अनेक धार्मिक स्थानों, अधिष्ठानों में स्त्रियों का प्रवेश वर्जित है, धर्म के ठेकेदार आज भी धार्मिक – आध्यात्मिक क्षेत्र में लैंगिक आधार पर भेदभाव करते हैं, और जनता आस्थापूर्वक, भयपूर्वक उनके दिशा – निर्देशों को मानती भी है। ऐसे में भक्तिकालीन साधिका मीराबाई के व्यक्तित्त्व और कृत्तित्व पर ईमानदारी के साथ विमर्श किये जानें की आवश्यकता है। मीराबाई का काव्य भारतीय स्त्री विमर्श का एक ऐसा केन्द्र बिंदू है जो मध्यकाल से ही पुरुष सत्ता को नकार रहा है।इस तथ्य को नकारना साहित्यिक और आलोचकीय बेइमानी है,साथ ही अनैतिक और अमानवीय भी है।

संदर्भ

1. मीरा बाई की प्रासंगिकता और महात्मा गाँधी – डॉ. कमल किशोर गोयनका – साहित्य नंदिनी- फरवरी 2021
2. मीरा: सामंती अभिजात्य की विद्रोही प्रवक्ता – वीरेंद्र सिंह यादव – https://www.rachanakar.org/2009/10/blog-post_20.html

3. हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – पृष्ठ – 123-124 – लोकभारती प्रकाशन – 2017
4. स्त्री विमर्श और मीरा- रोहिणी अग्रवाल – पृष्ठ – 9,10, 11, 12 – आज के समय में मीरा का महत्व खंड 4 – ई ज्ञानकोश वर्ष 2014
5. मीरा की प्रासंगिकता- अर्चना वर्मा – पृष्ठ – 43, 44, 50 - आज के समय में मीरा का महत्व खंड 4 – ई ज्ञानकोश वर्ष 2014
6. प्रेम और भक्ति के लिये मीरा का प्रतिरोध – आलोक भट्टाचार्य - https://hindivivek.org/23389

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका
SJIF 2023 = 7.858, ISSN: 2277-7857
वर्ष: 16, अंक: 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

आधुनिक विश्व में मानवता की रक्षक श्रीमद्भागवत गीता का सांस्कृतिक अध्ययन: विश्व बंधुत्व के महामंत्र 'वसुधैव कुटुंबकम्' के विशेष सन्दर्भ में एक विश्लेषण

धीरज कु. निर्भय
पीएचडी शोधार्थी, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
ई-मेल: dhiraj.nirbhay@gmail.com

सारांश

वर्तमान संसार में भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत को जी - 20 के अध्यक्ष के रूप में भारत बखूबी निभा रहा है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की हमारा सांस्कृतिक चिन्तन अखण्ड मानव समाज के लिए मानवता और विश्व - बंधुत्व का महामंत्र है। भारतवर्ष विश्व के चार प्रमुख धर्मों की जन्मभूमि रही है - 1. हिन्दू 2. बौद्ध 3. जैन और 4. सिक्ख।

मानव इतिहास के विभिन्न कालखंडों में भारतवर्ष की धरती सम्पूर्ण मानव जाति का मार्गदर्शन करती रही है। चाहे वो द्वापर युग में कुरूक्षेत्र की युद्धभूमि में भगवान श्रीकृष्ण का अर्जुन को दिया श्रीमद्भागवत गीता का उपदेश हो या छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भगवान बुद्ध का संसार के प्रत्येक जीव को कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए बताया गया आर्य आष्टांगिक मार्ग का सन्देश अथवा जिनेंद्रिय भगवान महावीर का अहिंसा एवम् ब्रह्मचर्य सहित पंच महाव्रतों का सिद्धान्त या मध्य काल में गुरु नानक देव जी द्वारा मार्गदर्शित सतनाम् का उद्गार और गुरु गोविन्द सिंघ जी द्वारा स्थापित खालसा पंथ की धर्म रक्षा हेतु बलिदान की मानवीय प्रेरणा!

विश्वगुरु भारत के लिए आज पुन: स्वर्णिम कालखंड है जब वह युद्ध - हिंसा और प्राकृतिक आपदाओं से त्रस्त विश्व जनों का मार्गदर्शन कर मानवता का कल्याण करे।

बीज-शब्द: *मानवता, संस्कृति, विरासत, भागवत गीता, विश्व - बंधुत्व, अध्यात्म, मानवीय चिंतन, भारतीयता, मानव जाति, संयुक्त राष्ट्र, वैश्विक सन्देश।*

प्रस्तावना

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। ४-७!!
परित्रणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे - युगे ॥" ४-८!!

इस श्लोक में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं "जब-जब इस धरती पर धर्म की हानि होती है, विनाश का कार्य होता है और अधर्म आगे बढ़ता है, तब-तब मैं इस धरती पर आता हूं और अवतार लेता हूं। ताकि सद्जनों की रक्षा हो, दुष्टों का नाश हो और धर्म की स्थापना हो, ऐसा मैं हर युग में करता हूं।"

उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि जब-जब संसार संकटों में उलझने लगता है तब - तब ईश्वर किसी न किसी रूप में संसार में अवतरित होकर समस्त मानव जाति व जीवों की रक्षा व उत्थान करते हैं।

भारतीय संस्कृति में गौ, गीता और गंगा, इन तीनों को माता के रूप में पूजनीय माना जाता है और तीनों को पवित्र मानकर उनकी रक्षा का संकल्प लिया जाता है।

भारतीय संस्कृति में गीता अक्षय ज्ञान का वह स्रोत है जो कभी समाप्त नहीं हो सकती। भारतीय संस्कृति में ऋषि - मुनियों ने मानवता के कल्याणार्थ जो ज्ञान का महासागर हम लोगों के लिए लिख कर रख छोड़ा है वो कभी समाप्त नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति की अनमोल विरासतों में श्रीमद्भागवत गीता भी आती है। हमें सिर्फ प्राचीन इमारतों, मंदिरों, मूर्तियों, नगरों व स्तूपों की हीं रक्षा नहीं करनी चाहिए वरन् ज्ञान के लिखित स्त्रोतों ताम्रपत्रों, भोजपत्रों, पाण्डुलिपियों आदि की भी समय अनुरूप उचित रूप से देखभाल करनी होगी क्योंकि ये आने वाली पीढ़ियों के लिए धरोहर स्वरूप हैं। हालांकि इस पर अनेकों सरकारी व गैर - सरकारी संस्थाएं काम कर रही हैं परन्तु निस्वार्थ भाव से मानवता के लिए काम करने वाली गीता प्रेस गोरखपुर नामक संस्था, जिन्होंने गीता जी के नाम पर हीं अपनी संस्था स्थापित की है अद्भूत है। इसमें इस्कॉन संस्था के योगदान को भी नहीं भूलाया जा सकता है जिस संस्था ने भगवान श्रीकृष्ण के कालजायी संदेश गीता को विश्व के हरेक देश में पहुंचा दिया है।

शोध विस्तार

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने हाल हीं में श्रीमद्भागवत गीता की 20 व्याख्याओं को एक साथ लाने वाले 11 संस्करणों का लोकार्पण कश्मीर में किया था । गीता व भारतीय संस्कृति से जुड़ी महत्वपूर्ण बातें भी सबों के बीच रखी। उन्होंने कहा कश्मीर से एक प्रकार से ज्ञान और संस्कृति की धारा अविरल बहती रहती है, कश्मीर के भट्ट भाष्कर, अभिनवगुप्त, आनंदवर्धन, अनगिनत विद्वान, जिन्होंने गीता के रहस्यों को हमारे लिए उजागर किया। आज वो महान परंपरा एक बार फिर देश की संस्कृति को समृद्ध करने के लिए तैयार हो रही है। ये कश्मीर के साथ-साथ पूरे देश के लिए भी गर्व का विषय है।

किसी एक ग्रंथ के हर श्लोक पर ये अलग-अलग व्याख्याएँ, इतने मनीषियों की अभिव्यक्ति, ये गीता की उस गहराई का प्रतीक है, जिस पर हजारों विद्वानों ने अपना पूरा जीवन दिया है। ये भारत की उस वैचारिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता का भी प्रतीक है, जो हर व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण, अपने विचार रखने के लिए प्रेरित करती है। किसी के लिए गीता ज्ञान का ग्रंथ है, किसी के लिए सांख्य का शास्त्र है, किसी के लिए योग सूत्र है, तो किसी के लिए कर्म का पाठ है। अब मैं जब गीता को देखता हूँ तो मेरे लिए ये उस विश्वरूप के समान है जिसका दर्शन हमें 11वें अध्याय में होता है- मम देहे गुडाकेश यच्च अन्यत् द्रष्टुम इच्छसि। अर्थात्, मुझमें जो कुछ भी देखना चाहो देख सकते हो। हर विचार, हर शक्ति के दर्शन कर सकते हो।

गीता के विश्वरूप ने महाभारत से लेकर आज़ादी की लड़ाई तक, हर कालखंड में हमारे राष्ट्र का पथप्रदर्शन किया है। आप देखिए, भारत को एकता के सूत्र में बांधने वाले आदि शंकराचार्य ने गीता को आध्यात्मिक चेतना के रूप में देखा। गीता को रामानुजाचार्य जैसे संतों ने आध्यात्मिक ज्ञान की अभिव्यक्ति के रूप में देखा। स्वामी विवेकानंद जी के लिए गीता अटूट कर्मनिष्ठा और अदम्य आत्मविश्वास का स्रोत रही है। गीता श्री अरबिंदो के लिए तो ज्ञान और मानवता की साक्षात अवतार थी। गीता महात्मा गांधी की कठिन से कठिन समय में पथप्रदर्शक रही है। गीता नेताजी सुभाषचंद्र बोस की राष्ट्रभक्ति और पराक्रम की प्रेरणा रही है। ये गीता ही है जिसकी व्याख्या बाल गंगाधर तिलक ने की और आज़ादी की लड़ाई को एक नई ताकत दी, नई ऊर्जा दी थी। मैं समझता हूँ कि ये सूची इतनी लंबी हो सकती है कि कई घंटे भी इसके लिए कम पड़ेंगे। कैसे गीता ने हमारी आज़ादी की लड़ाई को ऊर्जा दी, कैसे हमारे स्वाधीनता सेनानियों को देश के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने का साहस दिया, कैसे गीता ने देश को एकता के आध्यात्मिक सूत्र में बांधकर रखा ।

गीता तो भारत की एकजुटता, समत्व की भावना का मूल पाठ है, क्योंकि गीता कहती है- 'समम् सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम् परमेश्वरम्'। अर्थात्, प्राणी मात्र में ईश्वर का निवास है। नर ही नारायण है। गीता हमारी ज्ञान और शोध की प्रवत्ति की प्रतीक है, क्योंकि गीता कहती है- 'न हि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रम् इह विद्यते'। अर्थात्, ज्ञान से पवित्र और कुछ भी नहीं है। गीता भारत के वैज्ञानिक चिंतन की भी ऊर्जा स्रोत है, क्योंकि गीता का वाक्य है- 'ज्ञानम् विज्ञानम् सहितम् यत् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभात्'। अर्थात, ज्ञान और विज्ञान जब साथ मिलते हैं, तभी समस्याओं का, दुःखों का समाधान होता है। गीता सदियों से भारत की कर्म निष्ठा का प्रतीक है, क्योंकि गीता कहती है- 'योगः कर्मसु कौशलम्'। अर्थात्, अपने कर्तव्यों को कुशलतापूर्वक करना ही योग है ।

गीता एक ऐसा आध्यात्मिक ग्रंथ है जिसने ये कहने का साहस किया कि- 'न अनवाप्तम् अवाप्तव्यम् वर्त एव च कर्मणि'। अर्थात सभी हानि-लाभ और इच्छाओं से मुक्त ईश्वर भी बिना कर्म किए नहीं रहता है। इसीलिए, गीता पूरी व्यावहारिकता से इस बात को कहती है कि कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किए नहीं रह सकता। हम कर्म से मुक्त नहीं हो सकते। अब ये हमारी ज़िम्मेदारी है कि हम अपने कर्मों को क्या दिशा दें, कैसा स्वरूप दें। गीता हमें मार्ग दिखाती है, हम पर कोई आदेश नहीं थोपती। गीता ने अर्जुन पर भी कोई आदेश नहीं थोपा था और श्रीकृष्ण ने पूरी गीता के उपदेश के बाद अंतिम अध्याय में अर्जुन से यही कहा, यानि सब कुछ करने के बाद, जितना जोर लगाना था, लगा लिया लेकिन आखिर में क्या कहा- 'यथा इच्छसि तथा कुरु'। यानी, अब मैंने जितना कहना था कह दिया, अब तुम्हें जैसा ठीक लगे वैसा तुम करो। ये अपने आप में शायद इससे ज्यादा कोई हो सकता है। कर्म और विचारों की ये स्वतन्त्रता ही भारत के लोकतन्त्र की सच्ची पहचान रही है। हमारा लोकतन्त्र, हमारे विचारों की आज़ादी देता है, काम की आज़ादी देता है, अपने जीवन के हर क्षेत्र में समान अधिकार देता है। हमें ये आज़ादी उन लोकतान्त्रिक संस्थाओं से मिलती है, जो हमारे संविधान की संरक्षक हैं। इसलिए, जब भी हम अपने अधिकारों की बात करते हैं, तो हमें अपने लोकतान्त्रिक कर्तव्यों को भी याद रखना चाहिए। आज कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इसी कोशिश में रहते हैं कि कैसे संवैधानिक संस्थाओं की गरिमा पर, उनकी विश्वसनीयता पर चोट की जाए! हमारी संसद हो, न्यायपालिका हो, यहाँ तक कि सेना भी, उस पर भी अपने राजनीतिक स्वार्थ में, हमले करने की कोशिश होती रहती है। ये प्रवत्ति देश को बहुत नुकसान पहुंचाती है। संतोष की बात है कि ऐसे लोग देश की मुख्यधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करते। देश तो आज अपने कर्तव्यों को ही संकल्प मानकर आगे बढ़ रहा है। गीता के कर्मयोग को अपना मंत्र बनाकर देश आज गाँव-गरीब, किसान-मजदूर, दलित-पिछड़े, समाज की हर वंचित व्यक्तियों की सेवा करने में, उनका जीवन बदलने के लिये प्रयास कर रहा है।

गीता के माध्यम से भारत ने देश और काल की सीमाओं से बाहर पूरी मानवता की सेवा की है। गीता तो एक ऐसा ग्रंथ है जो पूरे विश्व के लिए है, जीव मात्र के लिए है। दुनिया की कितनी ही भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया, कितने ही देशों में इस पर शोध किया जा रहा है, विश्व के कितने ही विद्वानों ने इसका सानिध्य लिया है। ये गीता ही है जिसने दुनिया को निःस्वार्थ सेवा जैसे भारत के आदर्शों से परिचित कराया। नहीं तो, भारत की निःस्वार्थ सेवा, 'विश्व बंधुत्व' की हमारी भावना, ये बहुतों के लिए किसी आश्चर्य से कम नहीं होती।

वर्तमान समय में जब हम विश्व पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि कोरोना महामारी के कारण सम्पूर्ण विश्व अशांत व दु:खमय सा हो गया है। चारों ओर निराशा का वातावरण बना हुआ है। कुछ दशक पीछे जाते हैं तो हम दो विश्वयुद्धों से त्रस्त विश्व को देखते हैं, जब अमेरिका जैसे देश ने भी जापान में परमाणु बमों का विस्फोट कर मानवता का दुर्दांत कर दिया था।

कोरोना जैसी महामारी दुनिया के सामने आई, उस समय जैसे पूरा विश्व इस खतरे से अंजान था, एक अज्ञात वैरी था। दुनिया तैयार नहीं थी, मानव तैयार नहीं था और वैसी ही स्थिति भारत के लिए भी थी। लेकिन भारत ने खुद को भी संभाला, और विश्व की सेवा के लिये जो भी कर सकता है, पीछे नहीं रहा। दुनिया के देशों को दवाइयाँ पहुंचाईं, जरूरत जिन सामग्री की थी उसको पहुंचाया। आज दुनिया के कई ऐसे देश जिनके पास वैक्सीन के लिए साधन-संसाधन नहीं थे, भारत ने उनके लिए बिना किसी बंध-अनुबंध और शर्त के, कोई शर्त नहीं, भारत ने वैक्सीन पहुंचाई। वहाँ के लोगों के लिए भी ये सेवा किसी सुखद आश्चर्य से कम नहीं है। उनके लिए, ये अलग ही अनुभव है। यही विश्व बंधुत्व है।

इसी तरह दूसरे देशों के भी जो लोग दुनिया में अलग अलग जगह फंसे थे, भारत ने उन्हें भी सुरक्षित निकाला, भारत ने उनके देश पहुंचाया। इसमें भारत ने नफा-नुकसान का कोई गणित नहीं लगाया। मानव मात्र की सेवा को ही कर्म मानकर भारत ने ये कर्तव्य निभाया। जब दुनिया के लोग, विश्व के नेता इसे भारत द्वारा की गई सहायता बताते हैं, भारत के प्रति प्रधानमंत्री को धन्यवाद देते हैं, तो वो कहते हैं कि भारत के लिए ये सहायता नहीं, संस्कार हैं। भारत की दृष्टि में ये महानता नहीं, मानवता है। भारत सदियों से इसी निष्काम भाव से मानव मात्र की सेवा करते आ रहा है, ये मर्म दुनिया को तब समझ आता है जब वो गीता के पन्ने खोलती है। हमें तो गीता ने पग-पग पर यही सिखाया है- 'कर्मणि एव अधिकारः ते

मा फलेषु कदाचन’। यानी, बिना फल की चिंता किए निष्काम भावना से कर्म करते रहो। गीता ने हमें बताया है- ‘युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम्’। अर्थात, फल या लाभ की चिंता किए बिना कर्म को कर्तव्य भाव से, सेवा भाव से करने में ही आंतरिक शांति मिलती है। यही सबसे बड़ा सुख है, सबसे बड़ा पुरस्कार है।

गीता में तामसिक, राजसिक और सात्विक, तीन प्रवत्तियों का वर्णन भगवान कृष्ण ने किया है। यहाँ कोई, यहां जब आप एक प्रकार से गीता से जुड़े हुए मर्मज्ञ के लोग भी मेरे सामने हैं। आप सब जानते ही हैं कि गीता के 17वें अध्याय में इस पर कई श्लोक हैं और मेरे अनुभव के हिसाब से अगर हम सरल भाव में इन तामसिक, राजसिक और सात्विक प्रवत्तियों को कहें तो, जो कुछ भी सबके पास है, वो मेरा हो जाए, हमें मिल जाए, यही तामसिक प्रवत्ति है। इसके कारण दुनिया में युद्ध होते हैं, अशांति होती है, षड्यंत्र होते हैं। जो मेरा है, वो मेरे पास रहे। जो किसी और का वो उसका है, वो उसी में अपना गुजारा करे। ये राजसिक यानी सामान्य दुनियावी सोच है। लेकिन, जो मेरा है वो उतना ही सबका है, मेरा सब कुछ मानव मात्र का है, ये सात्विक प्रवत्ति है। इसी सात्विक प्रकृति पर भारत ने हमेशा से अपने मानवीय मूल्यों को आकार दिया है, समाज का मापदंड बनाया है। हमारे यहाँ परिवारों में भी बच्चों को भी सबसे पहले यही सिखाते हैं, कुछ भी मिले पहले सबको दो, बाद में खुद रखो। मैं मेरा नहीं करते, मिलकर चलते हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण भारत ने कभी अपनी पूंजी को, अपने ज्ञान को, आने और अपने आविष्कारों को केवल आर्थिक आधार पर नहीं देखा। अतीत में भी, हमारे प्राचीन विश्वविद्यालयों में विदेशी छात्र आए, विदेशी यात्री आए, हर किसी को हमने अपना ज्ञान-विज्ञान पूरी उदारता से दिया। हमने जितनी ज्यादा प्रगति की, उतना ही मानव मात्र की प्रगति के लिए और प्रयास हम करते रहे हैं।

हमारे यही संस्कार, हमारा यही इतिहास आज ‘आत्मनिर्भर भारत’ के संकल्प के रूप में एक बार फिर जाग्रत हो रहा है। आज एक बार फिर भारत अपने सामर्थ्य को संवार रहा है ताकि वो पूरे विश्व की प्रगति को गति दे सके, मानवता की और ज्यादा सेवा कर सके। हाल के महीनों में दुनिया ने भारत के जिस योगदान को देखा है, आत्मनिर्भर भारत में वही योगदान और अधिक व्यापक रूप में दुनिया के काम आयेगा। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए आज देश को गीता के कर्मयोग की जरूरत है। सदियों के अंधकार से निकलकर एक नए भारत के सूर्योदय के लिए, आत्मनिर्भर भारत के निर्माण के लिए, हमें अपने कर्तव्यों को पहचानना भी, उनके लिए कृतसंकल्प भी होना है। जैसे भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा था- ‘क्षुद्रम् हृदय दौर्बल्यम् त्यक्तवा उत्तिष्ठ परंतप’! अर्थात्, छोटी सोच, छोटे मन और आंतरिक कमजोरी को छोड़कर अब खड़े हो जाओ। भगवान कृष्ण ने ये उपदेश देते हुये गीता में अर्जुन को ‘भारत’ कहकर संबोधित किया है। आज गीता का ये सम्बोधन हमारे ‘भारतवर्ष’ के लिए है, 140 करोड़ भारतवासियों के लिए है। आज इस आह्वान के प्रति भी नई जागृति आ रही है। आज दुनिया भारत को एक नए नजरिए से देख रही है, एक नए सम्मान से देख रही है। हमें इस बदलाव को भारत की आधुनिक पहचान, आधुनिक विज्ञान के शिखर तक लेकर जाना है। शायद विश्व की ये पहली चिंतन धारा ऐसी है, ये विश्व का पहला ऐसा ग्रंथ है, विश्व का पहला ऐसा माध्यम है जो युद्ध की भूमि में रचा गया है, शंखनाद के बीच रचा गया है। जहां जय-पराजय दरवाजे पर दस्तक दे रहा था, उस समय कहा गया है। ऐसी प्रतिकूल वातावरण, अशांत वातावरण में, उसमें इतना शांत चित्त विचारधारा निकलना, ये इस अमृत प्रसार के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता है।

श्रीमद्भागवत गीता का उपदेश हालांकि अत्यंत प्राचीन रहा है परन्तु महर्षि वेदव्यास ने द्वापर युग में इसको लिपिबद्ध कर सामान्य जनों के कल्याणार्थ उपलब्ध कर दिया। गीता का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में धनुर्धारी अर्जुन को दिया था। गीता का उपदेश कर्मयोग पर आधारित है क्योंकि जब वीर अर्जुन सांसारिक रिश्तों में आसक्त हो कर युद्ध से विमुख हो जाता है तब भगवान श्रीकृष्ण ने यह उपदेश उसे सुनाकर और अपना विराट स्वरूप दर्शन कराकर, धर्म के रक्षार्थ युद्ध के लिए तैयार किया था।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन !
मां कर्म फलहेतुर्भू: मा ते सङ्गोत्स्वकर्मणि ! २:४७!

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं : तुम्हारा अधिकार सिर्फ कर्म करना है, फल की इच्छा करना नहीं। यदि तुम्हारी कर्मफल में तृष्णा होगी तो तू कर्मफल प्राप्ति का कारण होगा। अतः कर्मफल प्राप्ति का कारण तू मत बन।

निष्कर्ष

वर्तमान समय में जब हम विश्व पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि कोरोना महामारी के कारण सम्पूर्ण विश्व अशांत व दु:खमय सा हो गया है। चारों ओर निराशा का वातावरण बना हुआ है। कुछ दशक पीछे जाते हैं तो हम दो विश्वयुद्धों से त्रस्त विश्व को देखते हैं, जब अमेरिका जैसे देश ने भी जापान में परमाणु बमों का विस्फोट कर मानवता का दुर्दांत कर दिया था।

आज हमें यह चिंतन करने की आवश्यकता है कि जब विश्व के सभी देशों ने मिलकर विश्व की शांति, समृद्धि व मानवता का उत्थान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र जैसी उच्चतम संस्था की स्थापना की हुई फिर भी दुनिया के देश युद्ध - मार्ग का चयन क्यों कर रहे हैं। अमेरिका ने हीं 20 साल अफगानिस्तान में युद्ध किया लेकिन नतीजा क्या हुआ - शून्य।

श्रीमद्भागवत गीता हमें इन्हीं मानवता के उत्थान के मार्ग की बाधाओं से बचने व विश्व शांति की शिक्षा देती है। यह आध्यात्मिक पुस्तक सिर्फ हिन्दुओं के लिए हीं हितकारी नहीं है वरन् सम्पूर्ण मानव समुदाय की रक्षक है। इसलिए इसका अध्ययन व इस पर शोध विश्व के अनेकों विश्वविद्यालयों व संस्थानों द्वारा किया जा रहा है। गीता का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल से मानवता के कल्याणार्थ हीं दिया था।

अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण विश्व आज भारत की ओर इसलिए दृष्टिगत है क्योंकि दुनिया यह मानती है कि अशांत मानव जाति को समुचित मार्गदर्शन सिर्फ भारतीय संस्कृति से हीं प्राप्त हो सकती है क्योंकि इतिहास में भी भारत ने अनेक अवसरों पर जगत के कल्याणार्थ विश्व का मार्गदर्शन किया है और आज भी भारत हीं गौ, गीता और गंगा के माध्यम से मानवता का उत्थान करने को तत्पर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ:

1. श्रीमद् भागवत गीता : गीताप्रेस प्रकाशन गोरखपुर 2018
2. भारतीय प्रधानमंत्री कश्मीर भाषण : pmindia.gov.in भारत सरकार (09 मार्च 2021)
3. श्रीमद्भागवत गीता : विकीपीडिया
4. इस्कॉन संस्थान वेबसाइट
5. सत्य के प्रयोग : आत्मकथा , महात्मा गांधी , नवजीवन प्रकाशन, 2022 ।
6. मेरा भारत अमर भारत : स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ नागपुर प्रकाशन नागपुर 2017
7. ब्रह्मसूत्र उपनिषद् एवम् श्रीमद् भागवत: डॉ. वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी, कृष्ण सत्संग भवन प्रकाशन मथुरा 1984-85, पृष्ठ 283
8. भारतीय दर्शन: आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ऑरियन्टालिया प्रकाशन वाराणसी 1979, पृष्ठ 49 से 72
9. गीता - रहस्य: लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, अनुवादक श्रीमान माधवराव जी सप्रे, तिलक प्रकाशन पूना 1982
10. गीता - प्रबन्ध भाग 1: श्री अरविन्द, श्री अरविन्द सोसायटी प्रकाशन पांडिचेरी 1969
11. रसो वै स: : माधोदास मूंधड़ा, भारतीय विधा मन्दिर प्रकाशन बीकानेर 1992, पृष्ठ 27 से 41
12. गीता माता: महात्मा गांधी, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली 2021
13. सम्पूर्ण यथार्थ गीता: स्वामी विवेकानन्द जी महाराज
14. यथार्थ गीता: स्वामी अड़गड़ानंद, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानंदजी आश्रम ट्रस्ट मुम्बई 1983
15. मानव विकास रिपोर्ट: संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम वर्ष 2021-22
16. un.org : संयुक्त राष्ट्र का इतिहास

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

नई शिक्षा नीति 2020 विभिन्न बदलाव और मूल्यांकन

नेहा शर्मा
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
ई-मेल: nehanehudelhi@gmail.com

सारांश

शिक्षा किसी भी समाज की पहली आवश्यकता होती है। सुदीर्घ काल से भारत के पास ज्ञान और शिक्षा की समृद्ध और व्यापक परंपरा रही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में औपनिवेशिक मानसिकता को दूर करने का पूर्ण प्रयास किया गया है नई शिक्षा नीति में भारतीय भाषाओं की बहुभाषी परम्परा को सम्मिलित किया गया है। नई शिक्षा नीति को व्यवसाय के साथ जोड़ा गया, इसमें लचीलापन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सृजनात्मक इत्यादि गुणों को अपनाया गया। शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नए सॉफ्टवेयर और ऐप लॉन्च किये गये। नई शिक्षा नीति के तहत वंचित वर्ग के छात्रों के लिए विश्वविद्यालय व छात्रवृत्ति के मार्ग खोले गए । जो भारतीय समाज को अच्छी दिशा प्राप्त कर सके। नई शिक्षा नीति की जड़े प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा में है। यहाँ नई शिक्षा नीति में आए विभिन्न परिवर्तनों के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे ।

बीज-शब्द: *राष्ट्रीय, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सृजनात्मक, समृद्ध, सॉफ्टवेयर, छात्रवृत्ति, विश्वविद्यालय।*

प्रस्तावना

यदि आजादी के समय से तुलना की जाए तो भारत में साक्षरता संस्थाओं की संख्या में नामांकन बढ़ा है। परंतु जब विद्यार्थियों की उपब्धि और गुणवत्ता ज्ञान में वृद्धि की बात करते है तो स्थिति बड़ी चिंताजनक दिखती है। 1986 / 1992 की शिक्षा नीति में मात्रात्मक सुधार के अलावा अन्य कोई सुधार नहीं आ सका। नई 'शिक्षा नीति 2020' एक ऐसा दस्तावेज प्रस्तुत करता है जो भविष्य के भारतीय समाज का ढांचा प्रस्तुत करता है। नई शिक्षा नीति वैश्विक बदलावों के साथ-साथ विद्यार्थियों के चहुँमुखी विकास पर बल देता है। इसमें भारतीय ज्ञान परंपरा, कला, विज्ञान, हथकरधा, प्रौद्योगिकी, टैक्नोलॉजी, भारतीय संस्कृति इत्यादि सभी को शामिल किया गया। प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ उच्च शिक्षण प्रणाली के महत्वपूर्ण बदलावों पर भी ध्यान दिया गया।

शोध विस्तार

नई शिक्षा योजना को शिक्षा के वर्तमान और वैश्विक लक्ष्यों की जरूरतों को ध्यान में रखकर बनाया गया। पाठ्यक्रम को लचीला और विद्यार्थियों की रूचि के अनुसार ढ़ाला गया। भारत सांस्कृतिक विविधताओं से भरा देश है तो "संस्कृति और शिक्षा के परस्पर संबंध को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि संस्कृति हमारे जीवन का ही एक रूप है और शिक्षा इस समस्त दृश्य प्रपंच को भली-भाँति समझने का एक साधन है। शिक्षा ज्ञान रूपी साधन को वास्तविक एवं व्यावहारिक जीवन में उपयोग के लिए हमें प्रेरित करती है । "

शिक्षा की उपलब्धि का मूल्यांकन कैसे किया जाए, परीक्षा प्रणाली में महत्त्वपूर्ण बदलाव किए गए। औपचारिक शिक्षा प्रणाली को किताबी और रटंत पद्धति से मुक्त करते हुए जीवन और कौशल से जोड़ने की व्यवस्था की गई।

विश्वविद्यालय में व्यवसायिक शिक्षा का नवीन आंकलन प्रस्तुत किया गया। नई शिक्षा नीति में 11-12 नीति के बाद व्यवसायिक शिक्षा की योग्यता वाले विद्यार्थियों के लिए अवसरों की उपलब्धता को सुनिश्चित किया गया। 2025 तक उच्चतर शिक्षा प्रणाली के माध्यम से 50 प्रतिशत विद्यार्थियों को व्यावसायिक शिक्षा का अनुभव प्रदान किया जाएगा, अकादमिक या अन्य क्षमताओं का विकास साथ-साथ होगा। इसके लिए स्थानीय उद्योगों और गैर-सरकारी संगठनों के साथ साझेदारी में व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करेंगे ।"

जब 1986 / 1992 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गई थी, तब इंटरनेट के क्रांतिकारी परिणाम पता लगाना कठिन था, परंतु अब कृत्रिम बुद्धिमता (आर्टिफिशियल इंटलिजेंस) 3 - डी / 7 वर्चुअल रियलटी जैसी क्रांतिकारी प्रौद्योगिकी का विकास हो रहा है। यहाँ "कृत्रिम बुद्धिमता की सहायता से 'इमेज क्लासिफिकेशन' और 'स्पीच ट्रांसक्रिप्शन' में लक्षित प्रशिक्षा दे सकते हैं। जो भारत के लिए स्वाभाविक भाषा प्रोसेसिंग को बढ़ावा देने के प्रयासों के साथ जोड़ा जाएगा।"

नई शिक्षा नीति में भारतीय बहु भाषाओं के महत्त्व को गंभीरता से स्वीकारा गया है। लॉर्ड मैकाले की शिक्षण प्रणाली ने भारतीय संस्कृति, भाषाओं व शिक्षण प्रणाली को दबाने का पूर्ण प्रयास किया। नई शिक्षा नीति के तहत भारतीय शिक्षण प्रणाली को अंग्रेजी मोह से छुटकारा दिलवाया। नई शिक्षा योजना में यूजीसी और एआईसीटीई द्वारा विश्वविद्यालय के एनसीसी कोर्स को मंजूरी दी गई है। इस कोर्स के माध्यम से विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के अंतर्गत देशभक्ति की भावना पैदा की जाएगी। नई शिक्षा योजना में बच्चों की क्षमता व पहचान का विकास करना है। शिक्षा नीतियों में पारदर्शिता को लाना। बच्चों की सोच को तार्किक व सकारात्मक बनाना व मूल्यांकन पर विशेष बल दिया गया है।

साथ ही "5+3+3+4 घटक के तहत शिक्षा की रूपरेखा को स्कूली पाठ्यक्रम में विकसित किया। जिसमें 3 से लेकर 8, 8 से लेकर 11, 11 से लेकर 17 एवं 14 से लेकर 18 वर्ष की आयु तक के बच्चे शिक्षा की प्राप्ति कर सकेंगे। नई रूपरेखा के तहत पहले भाग में प्री-स्कूल के 3 साल एवं प्राथमिक स्कूल की पहली और दूसरी कक्षा, कक्षा 3 से 5 कक्षा 6 से 8 और कक्षा 9 से 12 को शामिल किया गया है। "अतः विद्यार्थियों का समग्र विकास करने के लिए रूपरेखा तैयार की गई ।"

नई शिक्षा नीति के तहत भारतीय शिक्षा एवं संस्कृति को जोड़ने के लिए वर्तमान में सुशिक्षित शिक्षक समुदाय की आवश्यकता है। भारतवर्ष जैसे- बहु भाषिक सांस्कृतिक देश में हाल के वर्षों में सामाजिक गतिशीलता बढ़ी है। शिक्षकगण वैश्विक आवश्यकता के अनुसार ज्ञान एवं भारत केंद्रित विद्या अनुरक्षित हो साथ ही अपनी भारतीय परंपरा, लोक संस्कृति मानवीय मूल्यों के प्रति भी सजग हो। "वर्तमान में अध्यापक शिक्षण प्रणाली पाठ्यचर्या में कतिपर्य भागीदारों के अति उत्साह एवं जमीन से न जुड़े रहने के कारण विभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई है। पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर माध्यमिक स्तर तक की विद्यालयी शिक्षा के लिए 15 विभिन्न प्रकार के अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रमों की संकल्पना की गई फिर भी कुछेक विसंगतियाँ बनी रही।"

चार वर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम लागू करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। स्नातक उत्तीर्ण विद्यार्थियों के लिए 2 वर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम का प्रावधान किया गया। आज वर्तमान शिक्षा प्रणाली में प्रौद्योगिकी पर अधिक बल दिया गया है। ऑनलाइन और डिजिटल शिक्षा के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज प्रस्तुत किए गए है। प्रौद्योगिकी के प्रयोग ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली को अधिक सुलभ बना दिया है। वर्तमान शिक्षा नीति 2020, के प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों जैसे- "आर्टिफीशियल इंटेलिजेंस मशीन लर्निंग, ब्लॉक चेन, स्मार्ट बोर्ड, एडेप्वि कम्प्यूटर टेस्टिंग आदि के विकास पर ध्यान केंद्रित करती है।" प्रौद्योगिकी की सहायता से शिक्षण अधिगम और आकलन प्रक्रियाओं को बेहतर बनाना है ।

नई शिक्षा नीति में बाल्यावस्था की शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा पर बल दिया गया है। स्कूली शिक्षा में ड्रॉपआउट, निरक्षरता आदि बातों पर समग्रता से विचार किया गया है। नई शिक्षा नीति ने संपूर्ण भारत को जोड़ने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किए है । नई नीति शिक्षा नीति समतामूलक व समावेशी शिक्षा का लक्ष्य रखती है। नई शिक्षा नीति

संविधान के मूल्यों के अनुकूल है। इस शिक्षा नीति में "अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, ओबीसी, अल्पसंख्यकों की समस्याओं का संज्ञान लेना अनिवार्य है। नई शिक्षा नीति लड़कियों और ट्रांसजेंडर विद्यार्थियों की आवश्यकता को भी संज्ञान में लेती है।"

नई शिक्षा योजना तक तहत स्कूल के वातावरण को विद्यार्थियों के अनुकूल बनाया गया है। सरकारी स्कूल के बच्चों को दोपहर का भोजन, स्कूल यूनिफॉर्म, मुक्त किताबें और अन्य संसाधन उपलब्ध कराए जायेंगे ।

स्कूल प्रबंधन एवं प्रशासन, संसाधन की साझेदारी, समुदाय निर्माण स्कूल कॉम्पलेक्स आदि के मध्य संतुलित व्यवहार प्रभावी समुदायिक वातावरण के निर्माण में सहायक हो सकते हैं जिससे विद्यालय में संवेदनशील एवं सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण हो सके।" नई शिक्षा योजना में आईआईटी बहू विषय संस्थाओं का नव निर्माण किया गया व साथ ही नेशनल रिसर्च फाउंडेशन का निर्माण किया गया। जिससे शोध संस्कृति को सक्षम बनाया जाएगा व शोधकर्ताओं को बढ़ावा दिया जाएगा।

अतः "आईआईटी जैसे इंजीनियरिंग संस्थानों का भी निर्माण किया गया, ताकि बच्चे आईआईटी बहु विषयक शिक्षा की ओर बढ़े। जिससे छात्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा हो, और अपने करियर को इंजीनियरिंग के रास्ते पर लाकर भविष्य को उज्जवल बनाएँ ।"

निष्कर्ष

हम यह कह सकते हैं कि नई शिक्षा योजना में विद्यार्थियों के सर्वांगीण व चहुँमुखी विकास पर बल दिया गया प्राथमिक, उच्च व उच्चतर शिक्षा में महत्त्वपूर्ण बदलाव किए गए। अतः नई शिक्षा नीति सभी विद्यार्थियों को वर्ग, पंथ, जाति और भौगोलिक दूरी को समाप्त करते हुए सबको गुणवत्तापूर्ण शिक्षा दिलाएगी। यह नीति भविष्योन्मुखी और वर्तमान धरातल पर आधारित हैं। साथ ही 21वीं शताब्दी की चुनौतियों का मुकाबला करने वाली है।

संदर्भ सूची

1. प्रत्यूष कुमार मंडल, भारत, सांस्कृतिक विविधता में एकता, प्रभाग प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृष्ठ 11
2. डॉ. गोपाल ठाकुर, सं. डॉ. मनोज कुमार राय, नई शिक्षा नीति 2020 : एक सिंहावलोकन, म.ग.अ. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, 2020, पृष्ठ 8
3. वही, पृष्ठ 10
4. https:/rajhauanmp.in.help/
5. डॉ. गोपाल ठाकुर, सं. डॉ. मनोज कुमार राय, नई शिक्षा नीति 2020 : एक सिंहावलोकन, म.ग.अ. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, 2020, पृष्ठ 21
6. वही, पृष्ठ 23
7. वही, पृष्ठ 39
8. वही, पृष्ठ 41
9. वही, पृष्ठ 42
10. https:/rajhauanmp.in.help/

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

बदलता भारत: आदिवासी विकास के मुद्दे और चुनौतियां

डा. नीलांजना जैन
एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग,
आर्य कन्या डिग्री कालेज, संबद्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज, उत्तर प्रदेश

पूजा गुप्ता
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग,
आर्य कन्या डिग्री कालेज, संबद्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज, उत्तर प्रदेश

सारांश

भारत में जनजातीय समुदाय समान वर्चस्व की मांग और शोषण से मुक्ति चाहता है। सदियों बाद भी, भारत में आदिवासी समुदायों की अपरिवर्तित मौलिक मानवाधिकारों का उल्लंघन और राज्यों की बर्बरता, विशेषकर आदिवासी महिलाओं पर की गई अमानवीयता की स्थिति छिपी नहीं है। आदिवासी समुदायों को भी समाज के पिछड़े दलितों की तरह अलगाव और सामाजिक भेदभाव का सामना करना पड़ा है। जनजातीय समुदायों के वैचारिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन में लगातार परिवर्तन को देखा जा सकता है। भारतीय लोकतांत्रिक संविधान कई ऐसे नियम व कानून प्रदान करता है जिसके द्वारा जनजातीय समुदायों के अधिकारों की रक्षा की जा सके और उनके लिए सामाजिक न्याय को सुनिश्चित किया जा सके। हालांकि, इस संबंध में लोकतांत्रिक प्रयोग सफल नहीं रहा। भारत के सभी आदिवासी लोगों में एक बात समान है, वे सभी अन्याय का इतिहास साझा करते हैं। सामान्य रूप से बदलते भारत के बड़े ढांचे के भीतर आदिवासी अधिकारों का उल्लंघन कैसे किया जाता है, इसकी खोज करना आवश्यक है।

बीज-शब्द: *जनजातीय, मानव अधिकार, महामारी, स्वास्थ्य, विकास।*

प्रस्तावना

भारत में जनजातीय समुदाय सबसे कमजोर समुदाय रहा है। जीवन के हर कदम पर उनके मौलिक मानवाधिकारों का उल्लंघन होता रहा है। आदिवासी पिछड़े और गरीब हैं, प्राकृतिक रूप से अलग-थलग रहने वाले क्षेत्रीय निवासो में रहते हैं। दूरदराज के इलाकों में आदिवासी अभी भी सड़क, संचार, स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षित पेयजल और स्वच्छता की सामान्य बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं, अनुसूचित जनजाति आदिम लक्षणों, विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक अलगाव, बड़े पैमाने पर समुदायों के साथ संपर्क की शर्म और पिछड़ेपन के संकेत हैं। देश की जनजातीय आबादी 10.43 करोड़ है, जो कुल आबादी का 8.61% है। भारत की सबसे बड़ी संख्या मध्य प्रदेश में 14.69% है। जनजातीय विकास को एक ऐसे दृष्टिकोण के रूप में माना गया है जो जनजातीय लोगों को केंद्र स्तर पर रखता है। आदिवासी लोग पूरे भारत में फैले हुए हैं। उनकी अपनी संस्कृति और परंपराएं हैं। हालाँकि, वे अभी भी कई समस्याओं का सामना कर रहे हैं जो उनकी प्रगति और विकास में बाधा

डालती हैं जैसे, गरीबी, शैक्षिक समस्याएं, भूमि समस्याएं, स्वास्थ्य समस्याएं, नक्सलवाद, बच्चों का शोषण, अक्षम प्रशासन और शासन जिनका विश्लेषण इस शोध पत्र के माध्यम से किया गया है। यह पत्र सरकार द्वारा सुझाए और कार्यान्वित किए गए कई उपायों का विश्लेषण करता है, जैसे, संवैधानिक प्रावधान और सुरक्षा, शैक्षिक सुविधाएं, जनजाति सलाहकार परिषद, विधानमंडलों और पंचायतों में प्रतिनिधित्व, अनुसूचित जनजातियों के लिए आयोग, नौकरियों में आरक्षण, आर्थिक अवसर अनुसूचित जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन, राज्यों में कल्याण विभाग की स्थापना और जनजातीय अनुसंधान संस्थान। यह लेख चर्चा करता है कि भारतीय समाज और राष्ट्र के सकारात्मक परिवर्तन लाने के लिए भारत के आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में काफी सुधार कैसे होना चाहिए। जनजातियों के संदर्भ में विचार करें तो यह सवाल और भी जटिल हो जाता है कि क्या उन्हें आदिम मानव- सभ्यता के पुरात्तात्विक पुरा के रूप में पुरातन जीवन-स्थिति में ही अलग थलग छोड़ दिया जाए या विज्ञान और तकनीकी प्रगति की आधुनिक व्यवस्था में समायोजित होने का अवसर भी दिया जाए? सवाल तो यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि क्या उनके विकास के नाम उन्हें आधुनिक जटिल राज्य तंत्र और समाज व्यवस्था के सामने टूटकर बिखरने के लिए छोड़ दिया जाए या उन्हें नए परिवेश में सहज गतिशील होने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाए? आज जब औद्योगिक विकास के लिए खनिज सम्पदा और जंगल-पहाड़ के इलाके राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्यता उपयोगी माने जा रहे हैं और ये सारी सहूलियतें इन्हीं आदिवासी अंचलों में सुलभ हैं तो क्या क्षेत्रीय या राष्ट्रीय हितों के लिए 10 प्रतिशत आदिवासियों को विस्थापित कर उनकी अपनी जीवन शैली, समाज - संरचना, सांस्कृतिक मूल्यों में बलात वंचित कर दिया जाना उचित है? यानी आज यह सर्वाेपरी आवश्यकता दिख रही है कि विकास की मौजूदा अवधारणा की एक बार फिर समीक्षा की जाए।

भारतीय जनजाति की संवैधानिक वास्तविकता

भारतीय सविंधान के तहत अनुच्छेद 366 (25) के तहत अनुसूचित जनजातियों को परिभाषित करते हुए अनुच्छेद 342 का हवाला लिया गया। अनुच्छेद- 366 (25) में अनुसूचित जनजाति ऐसी जनजातियों, जनजाति समुदाय या उनके भाग से सम्बन्धित है जिन्हे 342 के तहत अनुसूचित जनजाति समझा जाता है। अनुच्छेद 342 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र के संबंध में संबंधित राज्य के राज्यपाल से परामर्श कर उस राज्य के किसी जनजाति या जनजाति समुदाय को अनुसूचित जनजाति के रूप में निर्धारित कर सकता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय सविंधान में अनुसूचित जनजाति की कहीं स्पष्ट परिभाषा नहीं है। अनुसूची 5 में अनुसूची क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियंत्रण के प्रावधान किये गए है। अनुसूची 6 में असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम राज्यों में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन का उपबंध। अनुच्छेद 46 में राज्यों को अनुसूचित जाति/जनजाति तथा अन्य दुर्बल वर्गो के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितो की रक्षा करने का आदेश है। अनुच्छेद 164 में छतीसगढ़, झारखंड, मध्य प्रदेश और ओडिशा राज्यों में जनजातियों के कल्याण हेतु एक भार साधक मंत्री का प्रावधान है। अनुच्छेद 243 (1) तथा 243 (8) में क्रमशः पंचायतो व नगरपालिकाओं में अनुसूचित जाति/जनजाति हेतु आरक्षण का प्रावधान है। अनुच्छेद 330 में लोकसभा में अनुसूचित जनजाति हेतु सीटों का आरक्षण है। अनुच्छेद 322 में राज्य विधान सभाओं में अनुसूचित जाति/जनजाति हेतु सीटों का आरक्षण है। अनुच्छेद 338 (1) में राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग की 2004 मे स्थापना की गयी है (89 वा संशोधन 2003)। अत्यधिक विस्तृत व्यवस्था होने के बावजूद जनजातियो की स्थिति आज भी दयनीय है। जिसका प्रमुख कारण है। अक्षम प्रशासन और शासन। भारत सरकार की प्रशंसनीय योजनाओ और कल्याणकारी कार्यक्रम को उन तक सफल रुप मे न पहुचा पाना है। ये कार्यक्रम अपेक्षित लाभार्थियों

तक देय नहीं है। बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार, कुप्रबंधन, दोषपूर्ण कार्यान्वियन के लिए खराब शासन जवाबदेह है। इसलिए वर्षों से आदिवासियों की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है।

भारतीय जनजातियो का आर्थिक स्तर

आदिवासियों के आर्थिक आधार को देखा जाये तो वे या तो खानाबदोश चरवाहे या कृषक हैं या अन्य संबद्ध व्यवसायों का पालन करते हैं। उनके भौगोलिक अलगाव, आर्थिक पिछड़ेपन और शिक्षा की कमी के कारण शोषण हुआ है। वे इन गतिविधियों से उस क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों का पूर्ण उपयोग करते है। सदैव आर्थिक विकास, मानव विकास का नेतृत्व करता है। जिससे व्यक्ति उत्तम स्वास्थ्य, शिक्षा व उत्तम जीवन स्तर प्राप्त कर सके। परन्तु आदिवासियों के लिए यह धारणा अभी भी धुंधली है। दो दिवसीय संगोष्ठी में वक्ताओं ने आदिवासी परिस्थितियों की वास्तविकताओं का निहित न होने के कारण सरकार की आदिवासी विकास नीतियों और गैर सरकारी संगठनों के हस्तक्षेप की आलोचना की। कर्नाटक राज्य जनजातीय अनुसंधान संस्थान के तत्वावधान में भारत में जनजातीय विकास मुद्दे और चुनौतियां नामक संगोष्ठी आयोजित की गयी। सुभाषचंद्र नाटिकर, समन्वयक, बाबासाहेब डॉ. बी.आर. कर्नाटक विश्वविद्यालय ने कहा कि पिछले 70 वर्षों में भारत में शुरू की गई आदिवासी विकास योजनाओं में कोई कमी नहीं है, जिसमें हजारों करोड़ रुपये खर्च किए गए हैं। फिर भी, आदिवासी समुदाय की स्थिति मे सुधार नहीं हुआ है। और न ही उनकी समस्याओं का समाधान किया गया है।[1]

कोविड-19 महामारी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से दुनिया का सबसे बुरा वैश्विक संकट था। इसने सामान्य रूप से अर्थव्यवस्था और विशेष रूप से कृषि, मानव स्वास्थ्य और स्वास्थ्य सेवा जैसे विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया है। 2011 की जनगणना के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों में 45ण्3ः अनुसूचित जनजाति और शहरी क्षेत्रों में 24ण्1ः गरीबी रेखा से नीचे श्रेणी में आते हैं। इसके अलावा, अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के 44.82 फीसदी, अनुसूचित जाति के 20.06 फीसदी और अनुसूचित जनजाति के केवल 11.89 फीसदी परिवारों के पास जमीन है। लगभग 90% अनुसूचित जनजाति परिवारों के पास आर्थिक संपत्ति के रूप में जमीन नहीं है, जो उन्हें कृषि मजदूरों या खेती के अन्य कार्यों और अनौपचारिक क्षेत्र के रूप में भी दूसरों की जमीन पर काम करने के लिए मजबूर करता है। 2013-2014 का बेरोजगारी सर्वेक्षण दर्शाता है कि केवल 48.2% अनुसूचित जनजाति युवाओं को 12 महीने की अवधि के लिए नियोजित किया गया है और 47.4% एसटी युवाओं 6.11 महीने के लिए नियोजित किया गया है। यह इंगित करता है कि आधे से अधिक अनुसूचित जनजाति के युवा भी वर्ष के अधिकतम समय के लिए बेरोजगार रहते हैं। वे किसी भी औपचारिक रोजगार से रहित हैं, जो उन्हें महामारी के दौरान जीविका का एक स्थिर स्रोत दे सकता था। उनके पास भूमि प्रणाली का समर्थन नहीं है जो उन्हें अपनी जीविका कमाने के लिए कृषि उपज बेचने में मदद कर सके वे पूरी तरह से मजदूरी पर निर्भर हैं, जो वर्तमान स्थिति के दौरान अनिश्चित हो गयी।[2]

स्वास्थ्य व पोषण – मिथ्या

किसी व्यक्ति की मानसिक, शारीरिक और सामाजिक रुप से अच्छे होने की स्थिति को स्वास्थ्य कहते हैं।[3] पोषण, स्वास्थ्य एवं कल्याण का केंद्रीय बिंदु है। यह आपको काम करने के लिए शक्ति व ऊर्जा प्रदान करता हैं। डब्ल्यूएचओ के अनुसार पोषण का संबंध शरीर की आवश्यकतानुसार आहार के सेवन को माना जाता है। जब हम स्वास्थ्य या स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में बात करते है तो यह किसी समूह विशेष के लिये नहीं है। विश्व के हर प्राणी को स्वस्थ, समृद्ध व खुशहाल जीवन का अधिकार है परन्तु वर्तमान परिपेक्ष्य मे यह धारणा कोरी ही प्रतीत होती है। भारत में भी ऐसा ही एक समूह है जो 21 वी सदी में भी

अपनी मूलभूत आवश्यकताओ के लिए संघर्ष कर रहा है। जनजातीय लोगों के रहन-सहन के मानदण्ड को समझने के लिए जनजातीय स्वास्थ्य को एक बहुत ही महत्वपूर्ण पैमाना माना जाता है। जनजातीय आबादी में अभी भी कई संक्रामक और संचारी रोग फैले हुए हैं। गरीबी, ऋणग्रस्तता, अशिक्षा, बंधन, शोषण, बीमारी और बेरोजगारी आदिवासियों की प्रमुख समस्याएं है। जनगणना-2011 के अनुसार भारत में अनुसूचित जनजातियों की संख्या 10,42,81,034 है। यह भारत की कुल जनसंख्या का 8.6% है।

2013 में स्वास्थ्य और जनजातीय मामलों के मंत्रालयों द्वारा गठित विशेषज्ञ समिति द्वारा जनजातीय स्वास्थ्य के व्यापक विश्लेषण किया गया। जिससे यह ज्ञात हुआ कि सीमा से अधिक आदिवासी कुपोषण से पीड़ित हैं। समिति को आदिवासी क्षेत्रों में मौजूदा स्वास्थ्य स्थिति की समीक्षा, राज्यों के लिए रणनीतिक दिशानिर्देश तैयार करने पर सिफारिशें करने का काम सौंपा गया था। समिति के अनुसार विभिन्न आदिवासी समुदायों की स्वास्थ्य स्थिति पर आकड़ो का लगभग पूर्ण अभाव है। देश में जनजातीय स्वास्थ्य की व्यापक स्वास्थ्य तस्वीर के अभाव में, नीतिगत उपाय और सरकारी कार्यक्रम अक्सर नाममात्र के होते हैं। समिति ने 2011 की जनगणना, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन, नागरिक समाज द्वारा किए गए अध्ययनों और जनजातीय स्वास्थ्य में राष्ट्रीय अनुसंधान संस्थान के एक अध्ययन के आंकड़ों पर विश्वास कर अपनी रिपोर्ट तैयार की। समिति ने पाया कि आदिवासी लोग बीमारियों के तिगुने बोझ से पीड़ित हैं। कुपोषण और संचारी रोग जैसे मलेरिया और तपेदिक, तेजी से शहरीकरण, पर्यावरणीय संकट के परिणामस्वरूप गैर-संचारी रोगों जैसे कैंसर, उच्च रक्तचाप और मधुमेह में वृद्धि हुई है। आदिवासी लोगों में अनुमानित शिशु मृत्यु दर कहीं न कहीं प्रति 1,000 जीवित जन्मों पर 44 से 74 के बीच है। समिति ने चिंताजनक रूप से कहा कि , 15 से 19 वर्ष की आयु की लगभग 50 प्रतिशत आदिवासी लड़कियों का वजन कम है। रिपोर्ट में कहा गया है कि ग्रामीण स्वास्थ्य सांख्यिकी (आरएचएस) गंभीर भौगोलिक और सामाजिक आर्थिक चुनौतियों के कारण आदिवासी क्षेत्रों में स्वास्थ्य के बुनियादी ढांचे और संसाधनों में भारी अंतर को प्रकट करती है। समिति ने सिफारिश की कि सरकार जनजातीय क्षेत्रों में प्राथमिक देखभाल के प्रावधानों पर आदिवासी स्वास्थ्य के लिए अपने संसाधनों का 70 प्रतिशत ध्यान केंद्रित करे।[4]

भारत कोविड-19 महामारी के महत्वपूर्ण चरणो का सामना कर चुका है इसने कई कठोर प्रतिबंधों और निवारक उपायों को प्रेरित किया है। वक्र को समतल करने के लिए देश भर में अपनाये जाने वाले सिद्धांत शर्तों के रूप में लॉक डाउन, सामाजिक दूरी, अलगाव और श्वसन स्वच्छता/खांसी शिष्टाचार की सिफारिश की जाती रही है। उचित परीक्षण सुविधाओं की कमी, स्वास्थ्य केंद्रों में उच्च प्रतीक्षा, प्रतिबंधित सड़क संपर्क और इलाके में परीक्षण के परिणामो में देरी समुदाय के लिए और अधिक मुश्किलें खडी की है।

विकास की असामनता

आदिवासियों का विकास एक बड़ी ही जटिल समस्या है क्योंकि उनके हर क्षेत्र में माँग दूसरे से बिल्कुल अलग है। आजादी के 70 से भी अधिक वर्षो के बाद भी आदिवासियों का वह उत्थान नहीं देखा गया जिसकी अपेक्षा की गयी थी। आज भी ये समाज के बाकि तबकों से पिछ्ड़े और कमजोर नजर आते है। आदिवासी आबादी का 10% से कम हिस्सा है और आजादी के बाद से भारत में सभी परियोजना विस्थापन के 40% से अधिक के लिए जिम्मेदार है। विकास के नाम पर विस्थापन के कारण मानव अधिकारों का उल्लंघन, मौलिक अधिकार, विस्थापन, गरीबी, पहचान संकट जैसे कई मुद्दे उत्पन्न हुए हैं। वर्ष 1994 के कुछ आधिकारिक आंकड़ों और आंकड़ों के अनुसार, भारत में लगभग 15.5 मिलियन लोग आंतरिक रूप से विस्थापित हुए थे और सरकार मानती है कि लगभग 11.5 मिलियन लोगों को पुनर्वास की आवश्यकता है।[5] अदालत ने

सरकार और व्यवसायों को मानवाधिकारों के उल्लंघन में शामिल होने के खिलाफ भी आगाह किया है। उदाहरण छत्तीसगढ़, झारखंड, ओडिशा, मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना मे लौह-अयस्क व कोयला प्रचुर मात्रा में हैं। इन समुदायो का उत्पीड़न व हमला किया गया, बिना सहमति के विस्थापित, बहुत कम पुनर्वास प्रदान किया और खनिज और परियोजना विकास के लिए मजबूत हाथ वाले आदिवासी समुदायों को दरकिनार किया गया ।[6]

भारत के संविधान में अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देने के लिए, अन्याय और शोषण से उनकी सुरक्षा की गयी है। आदिवासी उपयोजना रणनीति, इसकी पहल पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1975-1979) मे शुरु की गयी। अनुसूचित जनजातियों की देखभाल के लिए अक्टूबर 1999 में जनजातीय मामलों के मंत्रालय का गठन किया गया।[7] 1973 में, ढेबर आयोग ने आदिम जनजातीय समूहों को एक अलग श्रेणी का रूप दिया, जो आदिवासी समूहों में कम विकसित हैं। 1975 में, भारत सरकार ने विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूह नामक एक अलग श्रेणी के रूप में सबसे कमजोर जनजातीय समूहों की पहचान करने की पहल की और ऐसे 52 समूहों की घोषणा की गई, जबकि 1993 में इस श्रेणी में एक अतिरिक्त 23 समूहों को जोड़ा गया, जिससे यह कुल 75 हो गये। जनजातीय मामलों का मंत्रालय विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूहों के विकास की योजना को लागू करता है। इस योजना के तहत, संरक्षण-सह-विकास/वार्षिक योजनाएं प्रत्येक राज्य/संघ राज्य क्षेत्र द्वारा उनके लिए उनकी आवश्यकता के आकलन के आधार पर तैयार की जाती हैं, जिनका मूल्यांकन और मंत्रालय की परियोजना मूल्यांकन समिति द्वारा अनुमोदित किया जाता है।[8] आदिवासी उप-योजना के तहत एकीकृत जनजातीय विकास परियोजनाओं पर कार्यक्रम पांचवीं पंचवर्षीय योजना के बाद से गरीबी को कम करने, शैक्षिक स्थिति में सुधार और आदिवासी परिवारों के शोषण को खत्म करने के विशिष्ट उद्देश्यों के साथ लागू किया जा रहा है। जनजातीय उप-योजना का उद्देश्य समयबद्ध तरीके से सभी सामाजिक-आर्थिक विकास संकेतकों के संबंध में अनुसूचित जनजातियों और सामान्य आबादी के बीच की खाई को कम करना है। यह उन राज्यों पर लागू नहीं है जहां आदिवासी 60% से अधिक आबादी का प्रतिनिधित्व करते हैं।[9]

आगे की राह

आज दुनिया की छठी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था का दर्जा भारत ने हासिल तो कर लिया है लेकिन अब भी एक तबका ऐसा है जो हाशिये पर है। इस तबके के अंतर्गत वे जनजातियाँ आती हैं जो सुदूरवर्ती इलाकों में जीवन यापन कर रही हैं और कई समस्याओं को झेल रही हैं। हालाँकि सरकार अपने स्तर पर जनजातियों की स्थिति को सुधारने की दिशा में बेहतर प्रयास कर रही है लेकिन शासन के कार्यों में और ज़्यादा तब्दीली की ज़रुरत है। योजनाओं का लाभ जनजातियों तक नहीं पहुँच पाता है। इस रुकावट को दूर करना होगा। साथ ही जनजातियों के प्रति मीडिया की उदासीनता को खत्म करने की दरकार है। आदिवासी परिवारों को कृषि हेतु पर्याप्त भूमि देने तथा स्थानांतरित खेती पर भी रोक लगाने की आवश्यकता है। कृषि के अत्याधुनिक तरीकों से उन्हें अवगत कराना भी एक विकल्प है। सके अलावा शिक्षा संबंधी समस्याओं को दूर करने हेतु यह ज़रूरी है कि आदिवासियों के लिये सामान्य शिक्षा तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। स्कूलों में उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाए जिससे कि शिक्षा ग्रहण करने के बाद उन्हें बेकारी की समस्या से न जूझना पड़े। कृषि, पशु-पालन, मुर्गी-पालन, मत्स्य-पालन, मधुमक्खी-पालन एवं अन्य प्रकार की हस्तकलाओं का भी उन्हें प्रशिक्षण दिया जाए।स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को हल करने के लिये आदिवासी क्षेत्रों में चिकित्सालय, चिकित्सक एवं आधुनिक दवाइयों का प्रबंधन भी ज़रूरी है। उनके लिये पौष्टिक आहार तथा विटामिन की गोलियों की व्यवस्था की जाए ताकि इनमें कुपोषण से होने वाली बीमारियों को समाप्त किया जा सके।जनजातियों की सबसे प्रमुख समस्याओं में से एक है- उनका सांस्कृतिक अलगाव। लिहाज़ा उनकी इस

समस्या को हल करने के लिये ऐसे विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाए जहाँ आदिम ललित कलाओं की रक्षा की जा सके। जनजातियों के लिये किये जाने वाले मनोरंजनात्मक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम उन्हीं की भाषा में हों। इसमें उनकी भाषा संबंधी समस्या का भी समाधान निहित है। रही बात समाज के सदस्यों की तो सभी आम नागरिकों का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे अपने हितों के साथ-साथ जनजातियों के हितों की भी रक्षा करें। जब ऐसा होगा तभी हम सेंटिनलीज जनजाति जैसे विशेष समूह के मनोविज्ञान को समझ सकेंगे और उनके जीवन में बेवज़ह हस्तक्षेप नहीं करेंगे। साथ ही जो जनजातीय समुदाय संपर्क में आने को इच्छुक हैं उनका स्वागत करने में भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये।

निष्कर्ष

शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सुखी समृद्ध जीवन मानव जीवन का आधार है। भारत जैसे देश में जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ निवास करती है वे सभी सामान सामजिक न्याय के अधिकारी है। स्वतंत्रता के वर्षों बाद भी अनेक योजनाओ के बावजूद भी हालातो में कोई बेहतर सुधार होते नहीं दिखता है। आज भी एक समुदाय गुमनामी का जीवन जी रहा है। मानव होने के नाते उन्हें भी अपना सर्वगीण विकास करने का अधिकार है जिससे वे भी समाज में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। भारतीय सविधान की प्रस्तावना के अनुसार उन्हें भी समतापूर्ण और गरिमामय जीवन प्राप्त हो सके। जरूरत है संसाधनों को और भी कुशल बनाने की मूलभूत आवश्यकताओ पर ध्यान देते हुए व्यवहारिक कार्यों को अस्तित्व में लाने की जिससे आदिवासी समुदाय को समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके उनकी संस्कृति को भी समाज में उतना ही महत्व मिले जितना समाज के अन्य तबको को मिलता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. ट्राइबल डेवलपमेंट स्कीम फ्ल्यॅड, (18 जुलाई 2019, हिन्दू, कर्नाटक.
2. कासी, इस्वरप्पा और अतरई साह, (2021).शेड टू द मार्जिन्स द क्राइसेस अमंग ट्राइबल युथ इन इंडिया ड्युरिंग कोविड 19, सेज जॉर्नल.
3. विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार स्वास्थ्य की परिभाषा, 2016.
4. सैनी, गौरव.(2020).फर्स्ट एवर ट्राइबल हेल्थ रिपोर्ट फ्लैग्स डिसमल कंडीशन ऑफ़ एसटी, द वीक.
5. कुमार, सुमंत,(2019).ट्राइबल राइट्स इन इंडिया चैलेंजेस एंड अचीवमेंट इन 21 सेंचुरी, बेस्ट पब्लिशिंग हाउस, न्यू दिल्ली.
6. चक्रवती, सुदीप, (2016), ट्राइब एट द आल्टर ऑफ़ डेमोक्रेसी, मिंट.
7. त्रिभुवन, डी रोबिन, करेंन शैरी, (2004), हेल्थ मेडिसीन नूट्रिएशन ऑफ़ द ट्राइबल, डिस्कवरी पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली, पृष्ठ 5.
8. प्रेस इनफार्मेशन ब्यूरो गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स, वेलफेयर ऑफ़ पर्टिकुलर वल्नरेबल ग्रुप 04 जुलाई 2019.
9. इंडिजेनस कम्युनिटीज आर एट हाई रिस्क ऑफ़ गेटिंग कोविद 19 इंदुशमति गुणशंकरण कैथरीन अलिसा जॉन 26 अप्रैल 2020 साइंस द वायर.

समकालीन हस्तक्षेप
साहित्य, समाज और संस्कृति की पूर्व-समीक्षित मासिक शोध-पत्रिका

SJIF 2023 = 7.858, **ISSN:** 2277-7857
वर्ष: 16, **अंक:** 9, मई 2023
ई-मेल: issn22777857@gmail.com
वेबसाइट: www.hastakshep.co.in

भूमण्डलीकरण और असग़र वजाहत की कहानियाँ

प्रेमचन्द्र
शोधार्थी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ 202002
ई-मेल: premchandrakumar411@gmail.com

सारांश

भूमंडलीकरण का भारतीय जीवन पर बुरा असर पड़ा। लोग समाज से कटकर यांत्रिकता से ग्रसित हो गए जिसने हमारी संस्कृति और समाज को संकट में डाल दिया है। इसने हर क्षेत्र में अपना प्रभाव डाला है, चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कोई भी क्षेत्र हो। भूमंडलीकरण से उपजी चकाचौंध ने लोगों को अपने आगोश में ले लिया है। लोग अपने आप को, अपनी सभ्यता और संस्कृति को भूलकर पश्चिमी दुनिया का अंधा अनुकरण कर रहे हैं। भूमंडलीकरण की समस्या को संज्ञान में रखकर हिन्दी साहित्य के कई कथाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। कथाकार असग़र वजाहत ने अपनी अनेक कहानियों में इस समस्या का जिक्र किया है। उनकी इस चेतना को कुछ कहानियों के माध्यम से देखा जा सकता है, जैसे 'नाच', 'गिरफ्त', 'श्री टी.पी.देव की दस कहानियाँ' और 'ज़िम्मेवारी'आदि में उन्होंने इस समस्या को उठाया है।

बीज-शब्द: *भूमण्डलीकरण, असग़र वजाहत, हिन्दी साहित्य, कथा साहित्य, कथा, वैश्वीकरण, उदारीकरण, नाच, गिरफ्त, श्री टी.पी.देव की दस कहानियाँ, ज़िम्मेवारी।*

प्रस्तावना

भूमंडलीकरण से तात्पर्य विश्वग्राम की परिकल्पना से है। हिंदी का 'भूमंडलीकरण' शब्द अंग्रेजी के 'ग्लोबलाइजेशन' शब्द से निर्मित हुआ है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके मूल में अर्थ लाभ की नीति निहित है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में व्यापार के लिए दुनिया को एक करने का भाव है। यह एक आयामी प्रक्रिया है जिसमें विकसित देश अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक कंपनियों के माध्यम से अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इसने बाजार को निर्मित करके पूँजीवादी व्यवस्था को बढ़ावा दिया है। भूमंडलीकरण शब्द के अर्थ में निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर संसार का मंगल करना था परन्तु विश्व और समाज में इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। समाज वर्गों में विभाजित हो गया और लोगों में असमानता व्याप्त हो गई। एक पूँजीपति वर्ग और दूसरा निम्न वर्ग में लोग विभाजित हो गये। निम्न वर्ग के लोग पूँजी के अभाव में हाशिए पर जीने के लिए मजबूर हुए। भारत में भूमंडलीकरण का प्रवेश 1991 में हुआ। 'भारत का भूमंडलीकरण' पुस्तक में अभय कुमार दुबे लिखते हैं कि, "भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत ने अपनी भागीदारी घोषणापूर्वक 1991 में दर्ज की जब विदेशी मुद्रा संकट के कारण कांग्रेस की नरसिंह राव सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज लिया। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी द्वारा निर्देशित ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम अपनाने का निर्णय किया गया, जिसका मतलब था लोकहितकारी राज्य की संरचना को बदल कर आयात प्रतिस्थापन की जगह निर्यातोन्मुख विकासनीति पर आधारित बाजारोन्मुख नीतियाँ अपनाना, बड़े पैमाने पर निजीकरण का कार्यक्रम चलाना, विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देने वाली नीतियाँ बनाना, लाइसेंस-परमिट राज खत्म करके वाणिज्य और उद्योग नीति में भारी बदलाव करना।"[1]

शोध विस्तार

भूमंडलीकरण का भारतीय जीवन पर बुरा असर पड़ा। लोग समाज से कटकर यांत्रिकता से ग्रसित हो गए जिसने हमारी संस्कृति और समाज को संकट में डाल दिया है। इसने हर क्षेत्र में अपना प्रभाव डाला है, चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कोई भी क्षेत्र हो। भूमंडलीकरण से उपजी चकाचौंध ने लोगों को अपने आगोश में ले लिया है। आज हर व्यक्ति की जरूरतें इतनी हो गई हैं कि वह उन्हें पूरा करने के लिए पूँजी के पीछे अंधी दौड़ लगा रहा है। आज हर व्यक्ति एक मशीन बन गया है घर-परिवार, पड़ौस, समाज और देश में क्या घटित हो रहा है यह सब उसके संज्ञान में नहीं रहता है। वह बस अपने सीमित दायरे में ही रहना पसंद करता है। व्यक्ति की इस सोच ने उसे पशु बना दिया है। लोग अपने आप को, अपनी सभ्यता और संस्कृति को भूलकर पश्चिमी दुनिया का अंधा अनुकरण कर रहे हैं। भूमंडलीकरण की समस्या को संज्ञान में रखकर हिन्दी साहित्य के कई कथाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। कथाकार असग़र वजाहत ने अपनी अनेक कहानियों में इस समस्या का जिक्र किया है। उनकी इस चेतना को कुछ कहानियों के माध्यम से देखा जा सकता है, जैसे 'नाच', 'गिरफ्त', 'श्री टी.पी.देव की दस कहानियाँ' और 'ज़िम्मेवारी'आदि में उन्होंने इस समस्या को उठाया है।

'श्री टी.पी.देव की दस कहानियाँ' भूमंडलीकरण के व्यक्ति पर पड़े विपरीत प्रभाव को दिखाती है। पूरी कहानी छोटे-छोटे दस खंडों में लिखी गई है। हर खंड में अलग-अलग घटना का जिक्र किया गया है। सारी कहानी शहरी श्री टी.पी.देव नामक पात्र को केंद्र में रखकर लिखी गई है। इस कहानी में लेखक ने शहरी नौकरी पेशा व्यक्ति के माध्यम से उस पूरे वर्ग की खोखली जीवन शैली को दिखाया है जो समाज से कटकर अपने में अकेले जी रहा है। लेखक श्री टी.पी.देव के माध्यम से बताता है कि व्यक्ति भूमंडलीकरण की चकाचौंध में फँसकर जीवन जीना और हँसना भी भूल गया है। लोग अपने परिवार और समाज से विमुख होकर एकल जीवन जीने में खुशियाँ ढूँढ रहे हैं परन्तु व्यक्ति खुश होने की जगह अवसाद और नीरसता का शिकार हो गया है। लेखक कहानी में एकल जीवन शैली में जी रहे टी.पी.देव के माध्यम से व्यंग्य करता है कि, "श्री टी.पी.देव एक शरीफ शहरी थे। अपने काम से काम रखते थे। न किसी का लेना एक, न देना दो।...अचानक पता नहीं कैसे, एक दिन उन्होंने सोचा कि पिछली बार वे कब हँसे थे ? उन्हें याद नहीं आया। सोचते-सोचते थक गए और पता न चला, तो उन्होंने अपनी डायरियाँ, कागज़-पत्र उलट-पुलट कर देखे, पर कहीं यह दर्ज न था कि पिछली बार कब हँसे थे। फिर वे डॉक्टर के पास गए। उन्होंने बताया कि उन्हें लगता है कि वे शायद कभी हँसे ही नहीं हैं। कहीं यह कोई बीमारी तो नहीं है?.."[2] इस कहानी के दूसरे खंड में लेखक बताता है कि व्यक्ति का जीवन सामाजिक जीवन से इतर यांत्रिक जीवन हो गया है। हम हर क्षण किसी न किसी यांत्रिक यंत्र से जकड़े हुए हैं। लेखक कहानी में लिखता है कि, "श्री टी.पी.देव 15 साल से रोज टी.वी.देखते आ रहे थे। एक शाम जब वे फ्लैट लौटे, तो उन्होंने सोचा-आज वे टी.वी.नहीं देखेंगे। वे टी.वी.के सामने बैठ गए, मगर उसे ऑन नहीं किया। अचानक टी.वी.अपने-आप चल पड़ा। वे उछल पड़े और जल्दी से उठकर टी.वी.बंद करना चाहा, मगर वह बंद नहीं हुआ, बल्कि आवाज तेज हो गई। वे घबराकर दूसरे कमरे में चले गए। लेकिन उनके पीछे-पीछे टी.वी.भी वहाँ आ गया।"[3] कहानी के तीसरे खंड में लेखक बताता है कि अपने तक सीमित व्यक्ति को कहीं भी सुकून नहीं मिलता है क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रहकर, लोगों के साथ उठ बैठकर ही खुशी मिलेगी। लेखक लिखता है कि, "एक शाम श्री टी.पी.देव पार्क में कुछ देर आराम करने गए। क्या अच्छा अवसर मिला था कि एक साथ दो खाली बेंचें पड़ी थीं। जल्दी से श्री टी.पी. देव एक पर बैठ गए। फिर उठकर दूसरी पर बैठ गए। दो ही मिनट बाद फिर पहली पर आ गए। फिर कूद पड़े। दोनों बेंचों को इधर-उधर किया। एक पर चढ़कर दूसरे पर छलांग लगाई।"[4] कहानी के चौथे खण्ड में लेखक बताता है कि लोग आधुनिक जीवन की भाग दौड़ में अपने परिवार को भी भूल गए हैं। कहानी के पाँचवे खंड में लेखक बताता है कि व्यक्ति अपने काम में इतना जकड़ गया है कि कुछ क्षण खुशी से कहीं घूम-फिर भी नहीं सकता है। भूमंडलीकरण के प्रभाव ने लोगों को मशीन बना दिया है जो केवल दौड़ते रहते हैं। कहानी के छठे खंड में लेखक ने बाजार के प्रभाव से लोगों में जगी प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और द्वेष को टी.पी.देव के माध्यम से बताया है। कहानी में लेखक लिखता है कि, "श्री टी.पी.देव ने एक विज्ञापन देखा, 'यह कार खरीद कर आप अपने पड़ोसी के मन में ईर्ष्या पैदा कर सकते हैं।' बात श्री टी.पी.देव को जम गई। वे गए और कार खरीद लाए। मगर उन्हें यह मालूम नहीं था कि उनके पड़ोसी के पास कौन-सी कार है। उन्हें तो यह तक पता न था कि उनका पड़ोसी कौन है और कहाँ रहता है, लेकिन उन्हें यह मालूम था कि ईर्ष्या क्या होती है।"[5] बाजार के प्रभाव ने लोगों की संवेदनाओं को नष्ट कर दिया है। व्यक्ति का जीवन इस तरह हो गया है कि वह व्यक्ति की

जगह मशीनों से लगाव रखने लगा है और लोगों से दूर भागने लगा है। इस प्रकार की जीवन शैली ने हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता को संकट में डाल दिया है। व्यक्ति जीवित चीज से दूर भागने लगा है। कहानी के आठवें खंड में लेखक लिखता है कि, "श्री टी.पी.देव हर जीवित चीज से डरते थे। यही कारण था कि उन्होंने कभी कुत्ता बिल्ली तक नहीं पाला था। उनका पक्का विश्वास था कि ज़िन्दा चीजों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उनकी वफ़ादारी पर हमेशा शक किया जाना चाहिए। एक दिन श्री टी.पी.देव आराम से लेटे हुए थे कि अचानक उनका हाथ अपने सीने पर बाईं तरफ चला गया और उन्हें धड़कते हुए दिल की आवाज़ सुनाई दी। वे घबरा कर उठ बैठे। मतलब यह था कि वे जीवित चीज हैं। वे सीधे अस्पताल गए। दुःखद रिपोर्ट यह आई कि वे ज़िन्दा हैं। श्री टी.पी.देव अपने-आपको कुत्ता और बिल्ली से भी गया-गुजरा मानने लगे। वे जीवन-भर अपने जीवित अंश से डरते रहे। हाँ, मरने के बाद उन्हें चैन आया।"[6] इसी प्रकार कहानी के अगले खंडों में लेखक ने श्री टी.पी.देव के माध्यम से उनके साथ घटने वाली अन्य घटनाओं का जिक्र किया है। इस प्रकार लेखक ने इस कहानी के माध्यम से भूमंडलीकरण और उससे उपजे बाजारवाद के विपरीत प्रभाव को पाठक के सामने यथार्थ रूप में वर्णन किया है।

'नाच' कहानी में भूमंडलीकरण के नकारात्मक प्रभाव को दिखाया गया है। यह एक लघु कहानी है जो दो पृष्ठों में लिखी गई है। असग़र वजाहत ने लघु कहानी लेखन के रूप में एक नई कथा शैली को ईजाद किया है। उनकी कहानियाँ आकार में जितनी छोटी होती हैं, उनकी मारक क्षमता उतनी ही तेज होती है। 'नाच' कहानी के माध्यम से लेखक ने गाँव और शहरों में बन्दर-बन्दरिया का नाच दिखाने वाले मदारी की पीड़ा को दिखाया है। भूमंडलीकरण के प्रभाव से समाज में लोगों का रहन-सहन, खान-पान, पहनावा और शौक सब बदल गए हैं। लोगों का पहले जिन चीजों से मनोरंजन होता था और खुशी मिलती थी, आज समय इतना बदल गया है कि लोग अब उन चीजों को देखना भी पसंद नहीं करते हैं। भूमंडलीकरण का प्रभाव समाज पर इस तरह पड़ा कि उसने सदियों से हाशिए पर जी रहे लोगों की दो बक्त की रोजी-रोटी भी छीन ली और उन्हें दाने-दाने का मुहताज बना दिया। भूमंडलीकरण के प्रभाव से बाजारवाद का विस्तार हुआ और बड़े-बड़े कल कारखाने खड़े किए गए जिसमें ज्यादा से ज्यादा उत्पादित वस्तुओं की खपत बढ़ाने के लिए मनुष्य की जगह मशीनों को लगाया गया। जिससे लोगों में अराजकता उत्पन्न हुई और वे बेरोजगार होने से भूखों मरने लगे। कहानी में लेखक की संवेदना न केवल मदारीवाले के साथ जुड़ी हुई है बल्कि बन्दर-बन्दरिया जैसे जीवों के साथ भी जुड़ी हुई है। कहानी में लेखक मदारीवाले की पीड़ा से पाठक को रूबरू कराता है। लेखक लिखता है कि, "समय बदल गया है। लोगों के शौक भी बदल गए हैं। कल तक जो लोगों को अच्छा लगता था आज उसमें किसी की रुचि नहीं है- बन्दर वाले ने सोचा। पिछले कई सालों से बन्दर वाले की हालत पतली थी। उसका क्या, बन्दर और बन्दरिया तक का पेट नहीं भर पाता। तीनों दिन-दिन भर घूमते रहते, पर कहीं कोई नाच दिखाने के लिए न कहता। कहीं कोई करतब दिखाने की फरमाइश न करता। कहीं बच्चों की भीड़ न लगती।...भूखे मरने की नौबत तो पहले ही आ चुकी थी। अब मरने की नौबत आ गई। तीनों सिर जोड़कर बैठ गए।"[7] बाजारवाद के प्रभाव के कारण अब लोगों के मनोरंजन का साधन बन्दर-बन्दरिया का नाच नहीं बल्कि फिल्म, टी.वी.,इंटरनेट और मोबाइल जैसे यंत्र साधन बन गए हैं, जिसने लोगों को सामाजिक और पारस्परिक जीवन से विमुख कर दिया है। कहानी में लेखक बन्दर से कहलवाता है कि, "उस्ताद, तुम भी वही हो, मैं भी वही हूँ, बन्दरिया भी वही है, हमारा तमाशा भी वही है, जिसे देखने के लिए पहले भीड़ लग जाया करती थी तब, आज लोग क्यों नहीं देखते ? बन्दरिया ठंडी साँस लेकर बोली, शायद इसलिए कि अब मैं बूढ़ी हो गई हूँ, पहले जवान थी तो लोग..।"[8] बन्दर वाला जबाब देता है कि, "बात ये है कि आजकल फिल्मों का चलन बढ़ गया है..वीडियो टी.वी. लग गए हैं..सब वही देखते हैं।"[9] कहानी के अंत में, कई दिनों की भूख मिटाने के लिए वे तीनों विचार करते हैं और निर्णय लिया जाता है कि बन्दर नचाने बाला बन्दर के कपड़े पहनकर बन्दर का नाच करेगा और उसे बन्दर नचाएगा। बन्दर डमरू बजाता है और लोगों से बन्दरिया के साथ आदमी की शादी का तमाशा देखने को कहता है जिससे लोगों की भीड़ एकत्र होती है। तमाशा होता है, खूब मजा आता है, खूब पैसे मिलते हैं। वो तीनों भरपेट खाना खाते हैं। अंत में बन्दर पूँछता है कि उस्ताद ये क्या चमत्कार हुआ। इस सवाल का जबाब बन्दर वाला देता है कि, "देख जमूरे...ये दुनिया वाले ज़ालिम हैं। नाचने वाले का नाच देखकर उन्हें मज़ा नहीं आता..हाँ जो नहीं नाचता..उसे नाचता देख लोगों को मज़ा आता है।"[10] इस प्रकार लेखक इस कहानी में भूमंडलीकरण और बाजारवाद से समाज में उपजी विद्रूपताओं और असमानता को पाठक के सामने प्रस्तुत करता है।

'ज़िम्मेवारी' कहानी में भूमंडलीकरण से समाज में आयी असमानता को दिखाया गया है। भूमंडलीकरण ने जहाँ पूँजीपति वर्ग को बढ़ावा दिया है वहीं आम जन को गर्त में डाल दिया है। इसके प्रभाव से एक ऐसी दुनिया का निर्माण हुआ है जो आधुनिक रंगीन सपनों से भरी हुई है। जिसकी अपनी एक अलग जीवन शैली है। इस दुनिया में वही प्रवेश कर पाता है जो आर्थिक रूप से मजबूत होता है। इस चकाचौंध भरी दुनिया से अनपढ़ किसान, मजदूर आदि कोशों दूर हैं। ये आम लोग भी इस तिलिस्म भरी दुनिया में प्रवेश करना चाहते हैं परन्तु वे आर्थिक अभाव में व्यर्थ ही हाथ-पैर चलाकर निराशा के सिकार हो जाते हैं और एक समय ऐसा आता है कि आर्थिक तंगी में अपनी जरूरतें पूरी न कर पाने के कारण आत्महत्या कर लेते हैं।'ज़िम्मेवारी' कहानी इसी त्रासदी की ओर इशारा करती है। इस कहानी में दुलीराम नाम का एक मुख्य पात्र है। जिसकी पत्नी के साथ-साथ तीन लड़के और एक लड़की है। लड़कों के नाम बड़ा, मँझला और छोटा है तथा लड़की का नाम मुनिया है। यह तीन पृष्ठों की लघु कहानी है जिसमें लेखक ने दुलीराम के साथ-साथ पूरे परिवार के सदस्यों को आत्महत्या करते हुए दिखाया है। कहानी में लेखक लिखता है कि, "दुलीराम ने बच्चों की तरफ देखा, वे सो रहे थे। पत्नी पीठ किए इस तरह काँप रही थी जैसे मरने से पहले कोई आख़िरी साँसें लेता है। दुलीराम ने बड़कू की तरफ देखा, उसके मुँह से सफेद झाग निकलने लगा था। फिर दुलीराम ने दूसरे बच्चों की तरफ देखा और सामने परात में पड़ी खीर को देखने लगा जिस पर मक्खियाँ मंडरा रही थीं। बड़कू के पैरों पर सिर रखे मँझला लेटा था। उसकी आँखें भी पूरी तरह बंद थीं। छोटा इस तरह सिमटा पड़ा था जैसे माँ के पेट में पड़ा हो। मुनिया के मुँह में खीर टपक कर ठोढ़ी तक आ गई थी।"[11]

निष्कर्ष

भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने आम लोगों के जीवन में जहर घोल दिया। किसानों से खेती और मजदूरों से मजदूरी छीन कर बड़े-बड़े उद्योग और कारखाने खड़े कर दिए गये जिससे संभ्रांत वर्ग के लोगों का ही भला हुआ और आम जन का जीवन संकट में आ गया और स्थिति ये बनी कि वे जहालत में जीने को मजबूर हुए। 'ज़िम्मेवारी' कहानी में यह आम जन की पीड़ा स्पष्ट दिखाई देती है। कहानी में दुलीराम पत्नी के साथ-साथ पहले सभी बच्चों को पंखे से रस्सी बाँधकर मौत के घाट उतार देता है और बाद में स्वयं आत्महत्या कर लेता है। लेखक लिखता है कि, "दुलीराम ने लाइट नहीं बंद की थी। पीली-पीली मौत जैसी रोशनी में दुलीराम की लाश पंखे से झूल रही थी और उसके नीचे बड़कू की गणित की कॉपी पर लिखा था- मैं दुलीराम, अपने परिवार के साथ आत्महत्या कर रहा हूँ। मेरी और मेरे परिवार की हत्या की जिम्मेवारी किसी पर नहीं है।"[12] इस प्रकार लेखक ने इस कहानी के माध्यम से उस आम जन की पीड़ा को दिखाया है जो भूमंडलीकरण से उपजी व्यवस्था में अपने को स्थिर नहीं कर पाते हैं और अंत में मौत को गले लगाना उन्हें इस व्यवस्था से ज्यादा आसान लगता है। इसी प्रकार लेखक की इस चेतना को 'गिरफ्त' और 'विकसित देश की पहचान' आदि कहानियों में भी देखा जा सकता है।

संदर्भ सूची

---

[1] कुमार दुबे,अभय.(सं.).(2017).भारत का भूमंडलीकरण.नई दिल्ली:वाणी प्रकाशन.पृ.44

[2] वजाहत,असग़र.(2016).मैं हिन्दू हूँ.नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन.पृ.107

[3] वजाहत,असग़र.(2016).मैं हिन्दू हूँ.नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन.पृ.108

[4] वजाहत,असग़र.(2016).मैं हिन्दू हूँ.नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन.पृ.109

[5] वजाहत,असग़र.(2016).मैं हिन्दू हूँ.नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन.पृ.112

[6] वजाहत,असग़र.(2016).मैं हिन्दू हूँ.नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन.पृ.114

[7] वजाहत,असग़र.(2016).मैं हिन्दू हूँ.नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन. पृ.25

[8] वजाहत,असग़र.(2016).मैं हिन्दू हूँ.नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन. पृ.25

[9] वही.पृ.25

[10] वही.पृ.26

[11] वही.पृ.120

[12] वही. पृ.122